बापू के शब्दों में :
"सच्चे अर्थ में महात्मा"
मनोहर बलवन्त दिवाण
को
भक्तिपूर्वक सादर समर्पित

निवेदन

कुष्ठ-रोग से पीड़ित भाई-बहनों से एकरूप हो जाने में मुझे अधिक समय नहीं लगा। उनकी सेवा करने की आकांक्षा भी दिनों-दिन बढ़ती गयी। आजीवन यह सेवा मेरे हाथों हो—यह वासना तो है, लेकिन उससे अधिक तीव्र इच्छा इस बात की है कि इस जीवन में ही यह महाविपत्ति किसी पर न रहे, वैसा दिन देख सकें।

विश्वविद्यालय में पढ़ते समय यह कल्पना भी नहीं थी कि 'कुष्ठ-सेवा' में जीवन जायगा। १९४८-४९ में सहज आदेश मिला। पू० विनोबाजी की प्रेरणा जो भी करा सके, वह थोड़ा ही है! वर्धा के 'दत्तपुर कुष्ठ-धाम में अनेक सेवापरायण महापुरुषों का सहवास हासिल हुआ। वहाँ के उपार्जित अनुभव लेकर बिहार आना पड़ा। भूदान-आंदोलन की आँधी से सारा बिहार प्रांत घिरा हुआ था। उसके बाद ग्राम-निर्माण का काल आया और पुनः 'कुष्ठ-सेवा' जबरदस्ती मुझे खींच ले गयी —नदी के किनारे, जंगल के एक छोर, दो घर के 'कपासिया' ग्राम में।

वहीं इस विषय पर अधिक विचार करने का मौका मिला। प्रस्तुत पुस्तक उसीका फल है।

पुस्तक के विषय में विशेष लिखने की जरूरत नहीं। जिन

लोगों की मदद इसमें मिली है, उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। डा० वाणेकरजी की सलाह और उनके प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर सका। डाक्टर ई० म्यूर का सहारा भी जगह-जगह लिया है। कहीं-कहीं तो विलकुल उन्हींके भाव, शैली और शब्द भी लेना उपयुक्त लगा है। इन दोनों गुरुजनों के प्रति हार्दिक भक्तिभाव प्रकट करता हूँ।

छपाईसम्बन्धी जो त्रुटियाँ रही हों, वे वावजूद सव कोशिशों के समय के अभाव में समझनी चाहिए। अगले संस्करण में वे दूर की जा सकेंगी। कुष्ट-सेवकों से निवेदन है कि वे अपने सुझाव दें, ताकि हिन्दी में और भी उत्तम साहित्य कुष्ट-सेवा पर तैयार किया जा सके।

कुष्ट-सेवा केन्द्र,
कपसिया,
पो० कौआकोल,
जि० गया
२-१२-'५७

—रविशंकर शर्मा

एक दर्द-भरी कहानी

भाई श्री……,

उस दिन जाते-जाते आप मुझे "Who Walk Alone" (वे जो अकेले चलते हैं !) पुस्तक देते गये, यह कहकर कि कभी अवकाश हो, तो देखियेगा। सच कहूँ, आपके संकोचवश मैंने उसे ले तो लिया, दूसरा होता, तो मैं अवश्य ही यह कहकर माफी माँग लेता कि—

"फुर्सत कहाँ कि बात करें आशिकां से हम,
लिपटे पड़े रहते हैं दर्दे-निहां से हम !"

यों ही यहाँ कौन कम झंझटें हैं, जो और एक मोल लूँ ?

× × ×

पर, इस पुस्तक को थोड़ा ही उलटा-पलटा कि ऐसा लगा कि यह तो पुस्तक नहीं है, यह तो—

"कागज पे रख दिया है, कलेजा निकाल कर !"

स्कूल में स्टो की "अंकिल टाम्स केबिन" पढ़ते-पढ़ते और '२२-'२३ में जेल में विक्टर ह्यूगो की "ला मिजरेबल्स" पढ़ते-पढ़ते मेरी जो हालत होने लगी थी, वही इसे पढ़ते-पढ़ते होने लगी। हृदय सिहर रहा है, आँखें बह रही हैं और रोम-रोम करुणा में डूब रहा है !

× × ×

बेचारा नेड !

कैसी दर्द-भरी कहानी है उसकी !

स्पेन और अमेरिका के बीच जो युद्ध छिड़ा था, उसमें लड़नेवाला यह अमेरिकन जवान फिलीपाइन्स के मोर्चे से जब सही-सलामत घर लौटता है, तो कितने प्रेम से घरवाले उसका स्वागत करते हैं, देखते ही बनता है।

आँखों में आँसू भरे हुए माँ उसे बाँहों में लपेट लेती है, पिता प्यार से उसकी पीठ थपथपाता है, भाई-बहन भी बड़े प्यार से मिलते हैं। मेयर से उसका परिचय कराया जाता है, नगरवासी उसे आदर से घेर लेते हैं।

कुछ समय बाद पिता उसे अपनी विरासत सौंपकर आँख मूँद लेता है। नेड अपना व्यापार सँभालने लगता है। ७-८ मास बाद उसे अपने सैनिक साथी बाब सैलर्स का एक पत्र मिलता है कि वह अभी दक्षिण लूजोन से लौटा है। वहाँ वह नोलास्को परिवार से मिला था। चरिता ने कहा है कि उसके छोटे भाई सांचो को कोढ़ हो गया है और उसे डर है कि यह रोग कहीं उसके सारे परिवार को न लग जाय !

× × ×

कोढ़ !

कोढ़ का नाम पढ़ते ही सन्न रह गया नेड।

और उसके बाद ही उसके मस्तिष्क में घूम गयी चरिता—उसकी भोली-भाली प्रेयसी—,उसका भाई, उसका परिवार, उसका घर,—जहाँ उसने इतने दिन बिताये थे···!

सांचो की याद करते-करते उसे लगा कि कहीं चरिता पर भी इस दुष्ट रोग का असर न हो गया हो। आह, कहीं उसका सुन्दर मुखड़ा इसकी चपेट में न आ गया हो·····!"

सोचते-सोचते नेड सिहर उठा।

'पर मैं भी तो उसके घर में था इतने दिनों ! ८ मास हो गये। कुछ होता, तो पता न चलता ?'

नेड कुछ आश्वस्त तो हुआ, पर उसका जी न जाने कैसा-कैसा कर उठा !

× × ×

और यों ही जीवन-चक्र के ६ वर्ष घूम गये।

चरिता को नेड ने अंग्रेजी सिखायी थी और खुद उसकी भाषा टेगलाग

सीखी थी। शर्त थी कि वह अंग्रेजी में उसे पत्र लिखेगी और नेड टगलाग में उसे उत्तर देगा। पर बरसें गुजर गयीं, कोई चिट्ठी-पत्री न आयी, न गयी। धीरे-धीरे उसकी स्मृति धुँधली हो उठी।

× × ×

तब तक नेड के जीवन में एक अमेरिकन लड़की आ गयी—जेन। उससे विवाह की बात चल ही रही थी कि बाब सेलर्स का एक पत्र मिला कि चरिता का भाई क्यूलियान भेज दिया गया है, वहाँ पर अमेरिकनों ने एक कुष्ठ-आश्रम खोला है। चरिता के बारे में लिखा था उसने कि कुछ दिन पहले उसकी शादी हो गयी थी, पर थोड़े दिनों में ही उसका पति मर गया। एक बच्चा हुआ था, सो भी जाता रहा!···

× × ×

इधर जेन से शादी की बात गहरी होती चल रही थी, उधर एक दिन नेड ने अपने कन्धे पर एक श्वेत-चिह्न देखा।

कुछ दिन बाद उसीके ऊपर वैसा ही एक और चिह्न!! थोड़े दिन बाद एक टाँग में भी वैसा ही एक सफेद चिह्न!!!

नगर के डॉक्टर को दिखाया। बोला—'मेरी कोई खास जानकारी नहीं इस बारे में। किसी बड़े शहर में जाइये।'

डरते-डरते, सकपकाते-सकपकाते नेड ने घर छोड़ दिया। न माँ से मिला, न भाई से!

और, शहर का बड़ा डॉक्टर मेजर थामसन उसकी तरह-तरह से परीक्षा करके बोला—'इसमें शक नहीं कि तुम्हारे शरीर में हेनसन के कीड़े (कुष्ठ-कीटाणु) हैं।'

काटो तो खून नहीं! नेड सिहर उठा। घृणा से उसका रोम-रोम काँप उठा। जी में आया कि बन्दूक हाथ में होती, तो वह थामसन को गोली से उड़ा देता!

× × ×

हम-दर्द डॉक्टर सेना में रह चुका था। उसने नेड को प्यार से अपने पास बैठाया, शराब पिलायी और उसे शान्त करने की चेष्टा की।

'डॉक्टर, क्या यह असाध्य रोग है ? इसकी कोई दवा नहीं है ?'—नेड ने अधीर होकर पूछा।

'ऐसी बात नहीं। उसके लिए नया उपचार निकला है और उससे इसके अच्छे होने की पूरी आशा है।' डॉक्टर ने उसे ढाढस बँधाया।

और बस, यहीं से जन-समाज से नेड के निर्वासन की कहानी आरंभ हो जाती है।

वह किसीसे मिल नहीं सकता !

किसीसे बात नहीं कर सकता !

किसीके पास नहीं बैठ सकता !

किसीको स्पर्श नहीं कर सकता !

अकेला ! अकेला !! अकेला !!!

× × ×

थामसन एक निर्जन स्थान में नेड को छोड़ आता है, जहाँ चूहे ही उसके साथी हैं—न आदमी, न आदमजाद !

और इस एकान्त में नेड रो पड़ता है—फूट-फूट कर। माँ, बहन, भाई, जेन—सब लोग एक-एक कर उसे याद आते हैं ! पर आह, जीवन में अब शायद ही कभी इनसे मिलना हो !

× × ×

छोटा भाई टाम डॉक्टर से खबर पाकर नेड से मिलने आता है। जेन के कुछ पत्र भी लाता है—प्रेम और भावुकता से ओतप्रोत।

नेड का समाचार जानकर टाम सिसक-सिसककर रो पड़ता है। नेड कहता है—'मैं न्यूयार्क जा रहा हूँ। वहाँ एक डॉक्टर है। वह यदि कुछ कर सका तो ठीक, नहीं तो मुझे फिर फिलीपाइन्स जाना होगा।'

'पर, मैं घर जाकर क्या कहूँ ? जेन से क्या कहूँ भैया ?'

'कह देना, भैया मर गया !'

टाम का गला भर आया। बोला—'असंभव भैया ! मुझसे ऐसा कहते नहीं बन सकता !'

'पर, और कोई चारा भी तो नहीं है, टाम !'

× × ×

न्यूयार्क के डॉक्टर ने नेड से सहानुभूति दिखायी, और कहा—'मैं चेष्टा करूँगा, शायद तुम्हें कुछ आराम हो जाय।'

टाम जो मोटर दे गया था, उसमें अपनी पहचान करानेवाले कुछ चिह्न छोड़कर नेड ने एक रात को दो बजे उसका इंजन चलाकर डक में छोड़ दिया। कुछ दूर तो मोटर पानी में गयी, फिर उलट गयी।

दूसरे दिन अखबारों में नेड लैंगफोर्ड की 'आत्महत्या' का समाचार छपा। लिखा था—'लाश का पता नहीं।'

यों इस दुनिया में मरकर नेड ने कोढ़ियों की दुनिया में जन्म लिया—नेड फर्गूसन के नाम से !

× × ×

न्यूयार्क के डॉक्टर टाड ने सालभर नेड की चिकित्सा की, पर अन्त में निराश हो उसे क्यूलियान भेज दिया। और क्यूलियान में तो कुष्ठ-पीड़ितों का उपनिवेश ही टहरा !

सारे संसार से तिरस्कृत, उपेक्षित, बहिष्कृत लोगों का यह प्रदेश नेड का भी निवास-स्थान बन गया।

× × ×

इस छोटे-से टापू में संसार की दृष्टि से 'मृत' प्राणी निवास करते हैं, जिन्हें कोई छूना नहीं चाहता, जिनसे कोई बात नहीं करना चाहता, जिनके पास कोई फटकना नहीं चाहता ! उनमें भी जीवन है, शक्ति है, बल है, स्फूर्ति है ! वे भी हँसते हैं, वे भी रोते हैं, उनमें भी भावनाएँ हैं, उनमें भी

सद्भाव और दुर्भाव हैं, उनका भी एक जीवन है—इसकी एक दर्द-भरी कहानी नेड की इस जीवन-गाथा में पग-पग पर मिलती है।

यहाँ नेड है, उसकी प्रेयसी चरिता है। दोनों मिलते हैं। दोनों व्यक्ति रोगी भाई-बहनों की सेवा में अपना जीवन अर्पित करते हैं। इन लोगों में प्रेरणा का संचार करते हैं।

नेड का चरित्र इस बात का सबूत है कि जिन्हें सभ्य-जगत् में जीने का भी अधिकार नहीं है, जो सबकी घृणा के पात्र हैं, जो सबकी उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र हैं, वे भी दूसरों में प्रेरणा का संचार कर सकते हैं, दूसरों को ऊपर उठा सकते हैं।

× × ×

दवा लेकर बेकार पड़े रहनेवाले अपने साथी रोगियों को लेकर नेड एक कारबार खड़ा करता है, उसका विकास करता है और इस बहाने अपने उपनिवेश में एक नये जीवन का संचार करता है। जिस दिन वह वहाँ से अपने देश के लिए कार्विले के कुष्ठ-आश्रम के लिए रवाना होता है, उपनिवेश के निवासी भरे हृदयों से, रोते-रोते उसे विदा करते हैं।

रास्ते में वह चरिता को एक दर्द-भरा पत्र लिखता है, जिसमें कहता है कि कैसे आश्चर्य की बात है कि माबेल और जेन (मंगेतर) जो दोनों जीवित हैं, वे यों लगते हैं कि हैं ही नहीं; पर माँ, पिता और टाम (भाई) मानो मेरे साथ ही हैं ! वे होते, तो अवश्य ही तुझे प्यार करते।···

प्यारी, प्यारी चरिता, एक बार मैंने सोचा था कि आते समय तुझे अपने साथ लूँगा, पर विवशता है कि तुझे विश्व के उसी पार मुझे छोड़ना पड़ा···!'

नेड रास्तेभर अच्छा रहता है, पर जिस दिन उसकी ट्रेन उसके गाँव के सामने से गुजरती है, उस दिन उसकी भावनाएँ इतनी उत्तेजित होती हैं कि वह दम तोड़ देता है !

× × ×

कुष्ठ-रोगियों के अनुभवी सेवक पेरी बर्गेस द्वारा लिखी नेड की यह जीवनी पत्थर का भी दिल हिला देनेवाली है।

नेड को उन्होंने देखा था, अत्यन्त निकट से देखा था। उसके बारे में उनका ठीक ही कहना है—'He was a man !' वह 'आदमी' था ! प्रेम, दया, करुणा, सेवा से ओतप्रोत—'आदमी' !

सचमुच, कितना मुश्किल है 'आदमी' होना !

× × ×

आज विश्व में कोई ७० लाख स्त्री-पुरुष कुष्ठ की भयंकर व्याधि से पीड़ित हैं।

मध्य अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, चीन, भारत, दक्षिण-पूर्वी एशिया में इनकी आबादी घनी है।

२०-२५ लाख कुष्ठ-रोगी तो हमारे यहाँ ही हैं।

इन अभागे भाई-बहनों को जैसा तिरस्कृत जीवन बिताना पड़ता है, वह कहने की नहीं, अनुभव करने की बात है।

मैं तो इन भाई-बहनों के दर्शनों से ही सिहर उठता हूँ, सेवा तो दूर की बात !

उस दिन दत्तपुर कुष्ठ-धाम में जो करुण दृश्य देखा, वह स्मरण करते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

मेरा विश्वास है कि कुष्ठ-रोगियों की सेवा से बढ़कर उत्तम सेवा शायद ही कोई दूसरी हो।

इन उपेक्षितों को अपनाना सबके वश की बात नहीं। उसके लिए ईसा, संत फ्रांसिस, फादर डेमियन और बापू चाहिए !

× × ×

ठीक ही कहा है तुका ने—

जे का रंजले गांजले। त्यासी म्हणे जो आपुले॥
तोचि साधु वोळखावा। देव तेथेची जाणावा॥

मृदु सबाह्य नवनीत। तैसें सज्जनाचें चित्त॥
ज्यासी अपंगिता नाहीं। त्यासी धरी जो हृदयीं॥
दया करणें जे पुत्रासी। तेची दासा आणि दासी॥
तुका म्हणे, सांगू किती। तेची भगवंताची मूर्ति॥

'जो दीन-दुःखियों को अपनाता है, वही सच्चा साधु है और उसमें भगवान् निवास करते हैं। सज्जनों का अन्तःकरण मक्खन जैसा अंदर-बाहर कोमल रहता है। वे तो अनाथ व्यक्तियों को अपने हृदय से लगा लेते हैं तथा अपने पुत्र के प्रति जिस ममत्व तथा स्नेह की भावना उनके मन में रहती है, उसी भावना से वे दास-दासियों के साथ भी बरताव करते हैं। तुकाराम कहते हैं, ऐसे सत्पुरुषों के विषय में जितना कहा जाय, उतना थोड़ा ही है। वे तो साक्षात् भगवान् की ही मूर्ति हैं।'

× × ×

कुष्ठ-रोगियों की सेवा सर्वोत्कृष्ट सेवा है।

पर, यह सबसे कठिन भी है।

और, यह सधेगी तभी, जब सेवक मलिक मुहम्मद जायसी की भाँति घट-घट में नारायण के दर्शन करेगा!

यह मस्त सूफी फकीर बदन में कम्बल लपेटे घूमा करता था। मधुकरी लाता, तो एकआध साधु को खिलाये बिना न खाता।

एक दिन नदी-तट पर भिक्षा लिये बैठा था—किसी साधु की प्रतीक्षा में, कि उधर से एक कोढ़ी आ निकला। जायसी ने बड़े प्रेम से उसे बुलाकर भिक्षान्न उसके सामने रख दिया।

उस कोढ़ी के अंग-अंग से रक्त और पीब टपक रहा था! चारों ओर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं!

कोढ़ी खाने लगा। भोजन में उसका रक्त और पीब टपक रहा था!

जब थोड़ा-सा भोजन बचा, तो जायसी ने कहा—'दादा, अब यह न होगा। रही बची प्रसादी मैं लूँगा।'

हठ करके जायसी ने नरोटी अपने मुँह में लगा ली।
और तभी देखा कि कोढ़ी तो गायब है!
विस्मय से भरा जायसी बोल पड़ा :

बुंदहिं सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हैरान, 'मुहमद' आपहि आप मँह॥

जायसी को प्रभु का साक्षात्कार हो गया—

दूध मांझ जस घीउ है, समुद मांझ जस मोति।
नैन मींजि जो देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

× × ×

नर में नारायण के दर्शन करने की यह दृष्टि रखकर जब हम आगे बढ़ेंगे, तभी हम कुष्ठ-रोगियों की सेवा में समर्थ हो सकेंगे।

कुष्ठ-रोग के निर्मूलन के लिए विश्वव्यापी प्रयत्न चल रहा है, सल्फोन जैसी उपयोगी दवाएँ निकल रही हैं, प्रयोग हो रहे हैं, उनसे लाभ भी दिखाई पड़ रहा है। पर इन रोगियों के लिए सबसे जरूरी दवा की अभी भी कमी है। और वह दवा है—सहानुभूति।

प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति और सद्व्यवहार के भूखे ये भाई-बहन हमारे दो मीठे बोलों के लिए तरसते हैं।

यह दवा हम सबके पास है।

काश, हम इतना भी इन्हें दे पाते!*

स्नेहाधीन

काशी
२६-११-'५७

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

* 'कुष्ठ-सेवा' के लेखक को लिखा एक पत्र।

अनुक्रम

कुष्ठ-सेवा

विषय-प्रवेश : १ :

सत्य-संकल्प जीवन भर के लिए होते हैं। एक जीवन समाप्त होने से वे नष्ट नहीं होते। उनकी एक परम्परा हमेशा कायम रहती है। इसलिए वैसे संकल्प लेनेवालों के जीवन में भी परम्परा की कड़ियाँ छोड़ जाते हैं। गरीबों और दुखियों की सेवा करने का संकल्प भी एक सत्य-संकल्प ही है। हम जब कोई काम शुरू करते हैं, तो मन में उसका कारण ढूंढ़ने की कोशिश किया करते हैं। लेकिन हमेशा समाधानकारक उत्तर पाना आसान नहीं होता। फिर भी निष्ठा का बल हमें आगे ले ही जाता है। कुष्ठ-सेवा के कार्य को विधायक कार्यों में शामिल करते समय गांधीजी के सामने और जो भी अनेक निमित्त रहे हों, लेकिन उनके जीवन में सत्य की खोज का स्थान जितना ऊँचा माना जाय, उतना ही थोड़ा है। उनका सारा जीवन सेवा के संकल्पों से भरा था। उनसे यह अत्यंत उपेक्षित दुःखियों का काम छूट जाना असंभव था। उनके समान ही और भी उदाहरण कुष्ठ-रोगी को ऊपर उठानेवालों के मिलते हैं। ईसा मसीह के नाम पर हजारों की संख्या में मिशनरी असीम सेवा-भाव और अनेक कष्ट सहते हुए भी इस काम को कर रहे हैं। 'फादर डेमियन' की कुर्बानी मानव-हृदय भूल नहीं सकता। हम कार्यकर्ताओं के सामने भी यह कार्य करते समय यही दृष्टि होनी चाहिए कि यह काम

हमारी और समाज की नैतिकता बढ़ानेवाला है। हम जिस आदर्श समाज को स्थापित करने की कल्पना करते हैं, उसमें एक भी कोढ़ी रहा, तो वह हमारे लिए लज्जा की बात होगी।

कुष्ठ-कार्य के प्रति घोर अज्ञान

कुष्ट-कार्य के बारे में विधायक कार्यकर्ताओं में एक बड़ी भ्रामक कल्पना यह रहती है कि यह विशेषज्ञों का ही काम है। दुर्भाग्य से दूसरी ओर डॉक्टरों में इसके विपरीत भावना पायी जाती है। वे मानते हैं कि यह तो समाज-सेवकों का काम है। एक तो डाक्टरी पेशे को इस कार्य में कोई आकर्षण नहीं है। दूसरे सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर नहीं है। इसी तरह केवल 'भूत-दया' के नाम पर काम करनेवाले (Relief workers) कार्यकर्ताओं के सामने भी समस्या हल करने का गहरा दृष्टिकोण नहीं होता। इसके अलावा सर्व-साधारण जनता की मनःस्थिति इस रोग के प्रति बड़ी ही विचित्र होती है। एक तो सभी अपनी ही फिक्र में इतने परेशान और व्यस्त हैं कि जब तक उनके घर में ही आग की चिनगारी आकर न पड़ जाय, तब तक वे सोचने की जरूरत ही महसूस नहीं करते। सारांश, इस रोग की जानकारी और उससे बचने के उपायों से आम जनता बिलकुल ही अनभिज्ञ है।

हिंदुस्तान के गाँवों की संख्या पाँच लाख, अट्ठावन हजार है। कुष्ट-रोग के अनुमानित आँकड़ों के अनुसार प्रति गाँव औसत पाँच व्यक्ति कुष्ट-रोग से पीड़ित हैं। यह तो स्पष्ट है कि आज शायद ही कोई गाँव ऐसा हो, जहाँ एक भी कुष्ठ-रोगी न रहता हो। यह सवाल सारे गाँवों का सवाल है। जनता इतने अज्ञान और प्रमाद में है कि उस ओर घृणा और उपेक्षा के अतिरिक्त ध्यान

ही नहीं देती। जिन लोगों ने जीवन में कभी कुष्ठ-रोगी का दर्शन न किया हो और उसे देखकर भी जिनका हृदय दया से न भरा हो, ऐसा विरला ही होगा। हिंदुस्तान की जनता में दयाभाव पर्याप्त है, लेकिन आज उसमें से धर्मरूप कर्तव्य का लोप हो गया है। जिस दिन वह पुरुषार्थ जगेगा, सारे देश का नक्शा ही बदल जायगा और मानव-समाज को उससे बड़ी प्रेरणा मिलेगी।

साथी कार्यकर्ताओं की दृष्टि से दो शब्द लिखना आवश्यक लगता है। हम सभी को यह समझ लेना चाहिए कि जिनकी सेवा में हम लगे हैं, उनकी समस्याएँ क्या हैं? ग्राम-निर्माण का काम काफी कठिन है। यदि समस्याओं और परिस्थितियों को ठीक से समझे बिना हम काम करने की कोशिश करें, तो वह न बनेगा। गाँवों के सारे काम एक-दूसरे से संबद्ध हैं। चरखा, ग्रामोद्योग, कृषि, तालीम, स्वास्थ्य आदि सभी का ग्रामीण जीवन से अटूट संबंध है। एक को छोड़कर दूसरा पूरा नहीं कर सकते। कुष्ठ-कार्य भी समग्र ग्राम-सेवा का एक अंग है। सबसे अधिक उपेक्षित और दुःखी लोगों का स्थान जंजीर की जीर्ण-शीर्ण दो-चार कड़ियों का-सा होता है। यदि पूरी जंजीर की शक्ति का उपयोग करना हो, तो सर्वप्रथम उन्हीं कमजोर कड़ियों की ओर ध्यान देना होगा। कुष्ठ-सेवा के प्रसिद्ध डॉक्टर इ० म्यूर की प्रेरणा हमारे लिए भी एक आदर्श हो सकती है। वे हमेशा प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! यदि मुझे फिर से जन्म लेना पड़े, तो हिन्दुस्तान के किसी एक गाँव में पैदा करो, ताकि कुष्ठ-रोग से पीड़ित दुःखी जनता की प्रत्यक्ष सेवा कर सकूँ।'

अब मैं प्रयोग के रूप में लिये गये इस क्षेत्र की प्रस्तुत समस्या पर आता हूँ। कौआकोल थाना ८५ गाँवों का एक छोटा-

सा इलाका है, जिसकी जनसंख्या २० हजार है। ग्राम-निर्माण-मंडल ने सघन ग्राम-निर्माण की दृष्टि से इसे चुना है। हम चाहते हैं कि जो लोग प्रत्यक्ष कार्य में लगे हैं, वे गाँवों की समस्याओं के पूरे अध्ययन के साथ ही अपने अनुभव भी इकट्ठा करें। इस इलाके में भी प्रत्येक गाँव में औसतन ४-५ कुष्ठ-रोगी मिलते हैं। उपचार की कोई व्यवस्था न होने के कारण रोगियों की दशा दयनीय है। रोग-प्रसार की दृष्टि से भी नये रोगी बढ़ते ही जा रहे हैं। इस रोग से ग्रस्त पूरे-के-पूरे परिवार भी पर्याप्त पाये जाते हैं। कलकत्ता, झरिया, धनवाद जैसे औद्योगिक क्षेत्रों से यह इलाका जुड़ा हुआ है। गरीवी और वेकारी के कारण वर्ष में आधे समय स्त्री, पुरुष, बच्चे वाहर मजदूरी करने जाते हैं। यहाँ रोग-प्रसार का यह भी एक विशेष कारण है। वाकी दूसरे सारे कारण और जगहों की तरह यहाँ भी मौजूद हैं। समशीतोष्ण जलवायु, गरीवी, अज्ञान, अस्वच्छता, सामाजिक कुरीतियाँ, निम्न जीवनस्तर आदि पिछड़ा इलाका होने के कारण मौजूद हैं ही।

ज्ञान से ही सर्वदुःख-निवारण

सब दुःखों का निवारण ज्ञान से हो सकता है। यही विश्वास हमारी सेवा को तेजस्वी बना सकेगा। शास्त्रीय पद्धति से समाज में फैले हुए भ्रमों का निराकरण किया जाना चाहिए। कुष्ठ-रोग की पूरी जानकारी समाज में जितनी अधिक फैलेगी, उतनी ही जल्दी यह समस्या हल होगी। इस काम में लगे लोगों को अक्सर कुष्ठ-सेवा का सुव्यवस्थित शिक्षण-क्रम बनाने की आवश्यकता महसूस होती है। मेडिकल कालेजों में कुष्ठ-समस्या का ज्ञान हमारे स्नातकों को नहीं मिल पाता। अवश्य ही आज देश में इस ओर कुछ प्रयास चल रहे हैं। डॉक्टरों के लिए 'हिंद-

कुष्ठ-निवारण' संघ की ओर से कलकत्ता लेप्रसी डिपार्टमेंट में ३-४ सप्ताह की ट्रेनिंग बहुत दिनों से चल रही है। 'गांधी-स्मारक कुष्ठ-समिति तथा दत्तपुर 'कुष्ठ-धाम' ने भी कुछ कुष्ठ-सेवक तैयार करने की योजना बनायी है। इन सबसे इस विशाल समस्या को हल करने में अवश्य मदद मिलेगी। लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि देश के विद्वानों का ध्यान इस ओर जितना जाना चाहिए, उतना नहीं गया है। आज हिंदी में कुष्ठ-रोग पर एक भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुष्ठ-सेवा के लगभग सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। लेकिन विशेष ध्यान इस बात का रखा गया है कि विशिष्ट शास्त्रीय वर्णन इतना क्लिष्ट न बन जाय कि सर्वसाधारण को समझने में कठिनाई हो। शास्त्रीय आधार छोड़े बिना जितना आवश्यक और उपयोगी विषय है, उसका समावेश किया गया है। चिकित्सा के अन्तर्गत अन्य आयुर्वेदीय योगों का समावेश किया जा सकता था; किन्तु वे अभीतक अनुभूत न होने के कारण इसबार छोड़ दिये गये हैं। वर्गीकरण, पूर्वरूप, लक्षण, साध्यासाध्यता तथा निदान में तुलनात्मक दृष्टिकोण से विषय का प्रतिपादन किया गया है। ...

जैसे इस रोग का नाम 'महारोग' है, वैसे ही हल करने की दृष्टि से भी यह एक महान् प्रश्न बना है। यों तो शारीरिक कष्ट और संसर्ग-शक्ति दूसरे सभी सांसर्गिक रोगों की अपेक्षा इसमें अत्यल्प मात्रा में पायी जाती है। लेकिन इसके कारण होनेवाले परिणाम इतने भयंकर और असह्य होते हैं कि बेचारा मानव बड़ा ही दयनीय बन जाता है। समाज की दृष्टि से उसकी मृत्यु ही हो जाती है। उसे अनेक आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है। समाज में उसके प्रति घृणा पैदा होती है। लोग उसकी ओर पापी, कुकर्मी की हीन-दृष्टि से देखने लगते हैं। घरवाले, रिश्तेदार, मित्र आदि भी पराये बन जाते हैं। पति-पत्नी का अटूट सम्बन्ध भी टूट जाता है। माँ-बाप भी साथ छोड़ देते हैं। बच्चों के लालन-पालन, शादी-विवाह का बड़ा प्रश्न खड़ा होता है। परिणाम यह होता है कि हर कुष्ठ-रोगी जहाँ तक उससे बनता है, अपना रोग छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन छिपाने से रोग तो कम होता नहीं, उल्टे बढ़ता ही है। साथ ही ठीक सावधानी और उपचार न करने से वह दूसरों को भी लगता है। किसी गाँव या घर में कोई एक इस रोग का शिकार हुआ, तो उस गाँव की जिन्दगी भर रोग पीछा नहीं छोड़ता। यह भ्रम भी बना हुआ है कि एक बार कुष्ठ-रोग हो जाने पर वह हमेशा के लिए लगा रहता है : 'सकृत् कुष्ठी सदा कुष्ठी' (Once a leper, always a leper.)।

अलग्नीकरण की अत्यावश्यकता

लेकिन अब लोगों को यह मालूम होने लगा है कि यह

उपचार से साध्य भी है। रोगी बड़ी संख्या में लम्बे समय तक उपचार के लिए आते हैं। लेकिन नये रोगी बनने का क्रम यथावत् जारी ही है। उपचार की व्यवस्था आज बहुत स्थानों पर उपलब्ध है, यह भी कम महत्त्व की बात नहीं। फिर भी रोग-प्रसार रोकने के अन्य उपायों का महत्त्व आज भी समाज के गले उतर नहीं पाया है। संसर्ग टालने का बुनियादी प्रश्न या अलग्नी-करण की समस्या कुष्ट-निर्मूलन में महत्त्व का स्थान रखती है। किसी काम को करने में असमर्थता प्रकट करने का अर्थ उस काम का महत्त्व कम करना नहीं होता। जब तक विज्ञान कुष्ठ-रोग के निरोधक अन्य उपाय खोज नहीं पाता, तब तक सांसर्गिक प्रकार के रोगियों को उनके उपचार-काल में भी अलग रखने की व्यवस्था करनी ही होगी। विशेषतः बच्चों को उनसे बचाने की योजना बनानी होगी।

अलग्नीकरण के प्रकारों के विषय में कुष्ठ-कार्यकर्ताओं में अक्सर मतभेद रहे हैं। कोई संस्थाओं द्वारा अलग्नीकरण को अधिक प्रभावकारी मानते हैं, तो कोई कम खर्चीला और अधिक सुविधाजक होने के कारण गृह और ग्राम्य अलग्नीकरण को बढ़ावा देना पसंद करते हैं। मेरी दृष्टि में सभी का अपना-अपना उपयोग और सभी की अपनी मर्यादाएँ हैं। जहाँ जो आसानी से संभव हो सके, उसका उपयोग करना चाहिए। कुछ लोग अलग्नीकरण की जरूरत ही नहीं मानते। शायद वे समझते हैं कि दूर रखने से समाज में उनके प्रति दुराव का भाव बढ़ता है। मेरे खयाल से यह गलत धारणा है। कुष्ठ-रोगी के प्रति भी यह एक घोर अपराध है। रोगी के प्रति प्रेम की निशानी उसका रोग दूर करना है। घर या समाज में नया रोगी बनने से उसके सवाल बढ़ते हैं, कम नहीं होते।

रोगियों की समस्याएँ

(१) रोगियों में अज्ञान : कुष्ठ-समस्या को समझने के लिए यह आवश्यक है कि रोगी की परिस्थिति का स्पष्ट अवलोकन हो। रोगियों में भी पर्याप्त प्रमाद और अज्ञान होता है। यह रोग असाध्य या ईश्वरीय प्रकोप है, यह धारणा भी उनके मन में बनी रहती है। परिणाम यह होता है कि उपचार-केन्द्रों पर नियमित रूप से वे नहीं जाते।

(२) स्नेह की प्यास : उनमें दूसरी विचित्र वृत्ति यह देखने को मिलती है कि वे जान-बूझकर सबके साथ मिलने की कोशिश करते हैं। इसका कारण भी अज्ञान ही है। जहाँ समाज अज्ञानवश कुष्ठ-रोगी से घृणा करता है, वहीं उसके प्रतिक्रियास्वरूप रोगी उसके और भी संपर्क में आने की कोशिश करता है। मनुष्य का मन जब दुःखी रहता है, तो उसे स्नेह और सहृदयता की अधिक प्यास होती है। उसे पाने के लिए वह अपने प्रेमीजनों का स्नेहालिंगन चाहता है। किसी कुष्ठ-धाम में हाथ का ठूँठ-मात्र अवशेष रहनेवाले किसी कुष्ठ-रोगी से अगर आप हाथ मिलायें, तो उसे कितना आनन्द होता है, इसका अनुभव आपको आयेगा।

(३) आर्थिक संकट : कुष्ठ-रोग हो जाने पर आर्थिक संकट का अंदाजा लगाना कठिन है। नौकरी छूट जाती है। काम-धन्धे, व्यापार-व्यवसाय आदि से अलग हो जाना पड़ता है। गाँव में मजदूरी करके भी गुजारा करना मुश्किल हो जाता है। घाव और अपंगता से शरीर काम करने लायक नहीं रहता। फिर बिना काम किये माँगकर खाने की प्रवृत्ति बढ़ती है। इन्हींके कारण भिखारियों की समस्या और भी जटिल बन

गयी है। समाज पर इनके वीभत्स प्रदर्शनों का बड़ा दूषित प्रभाव होता है। रोगियों के इधर-उधर घूमने से रोग का प्रसार तो होता ही है, समाज की दान-वृत्ति भी गलत दिशा में मुड़ती है। सड़कों और तीर्थस्थानों पर लँगड़े-लूले, अपाहिज कुष्ट-रोगियों को देख कुछ पैसे फेंककर आगे बढ़ने में लोग बहुत बड़ा पुण्य समझ लेते हैं। उनके आश्रित पत्नी, बच्चे आदि का क्या हाल होता होगा, इस ओर अक्सर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसके कई उदाहरण आज भी हमारे सम्मुख हैं। कुष्ठी बाप भीख माँगता है। उसी परिवार में तीन और बच्चे कुष्ठ-रोग से पीड़ित हैं। अकेली माँ किसी तरह मजदूरी करके पालन-पोषण करती है। गाँवों में काम न मिलने के कारण बेचारी छोटे बच्चे को साथ लेकर कोयले की खानों में खटने जाती है। इस तरह के और भी बहुत-से उदाहरण देहातों में मिल सकते हैं।

कुछ लोगों का खयाल है कि विभिन्न विकास-योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर सारा गाँव उठेगा, तो उसीके साथ कुष्ट-रोगियों के आर्थिक प्रश्न भी हल हो जायँगे। विकास-योजनाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ता है कि जब सारा गाँव एक इकाई बनेगा और अपने से अधिक दूसरों की चिन्ता करेगा, तभी गाँवभर का ढाँचा बदल सकेगा।

(४) उपचार की असुविधा : कुष्ट-रोगियों को अस्पताल में दूसरे रोगियों की भाँति सुविधाएँ प्राप्त नहीं होतीं। प्राइवेट डॉक्टर भी कुष्ट-रोग के बारे में पूरी जानकारी नहीं रखते और न यह काम करने की इच्छा ही रखते हैं। कुष्ट-रोगियों से अधिक पैसे तो मिलते नहीं। फिर लम्बे अर्से तक इलाज करना पड़ता है। डॉक्टरों के घरवाले भी उन्हें इस गन्दे और भयंकर काम में पड़ने देना पसंद नहीं करते। इन सब कारणों से कुष्ट-रोगियों को

अपना उचित इलाज कराने में बहुत परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं। आज सभी कुष्ठ-कार्यकर्ता इस बारे में एकमत हैं कि पहला बुनियादी काम सब रोगियों को उपचार उपलब्ध कराना है। उसके नजदीक से नजदीक कम खर्चीले इलाज की व्यवस्था हो सके, इस बात की आज पूरी कोशिश की जा रही है। उनके लिए अस्पताल के दरवाजे खोल देने की सिफारिशें हो रही हैं। यदि सभी डाक्टर इस ओर ध्यान दें, तो यह समस्या काफी आसान हो सकती है।

(५) **बच्चों का प्रश्न :** वास्तव में कुष्ठ-रोग बचपन का रोग है। बच्चों की प्रकृति स्वभावतः कोमल होती है और उनपर रोगी के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के अधिक अवसर आते हैं। कुष्ठ-शास्त्रज्ञों का मानना है कि यदि बच्चों की रक्षा कर लें, तो कुष्ठ-समस्या का मुख्य अंश हल हो जाता है। तब दो पीढ़ियों में सारा रोग ही समाप्त हो जायगा। बच्चों को अलग रखने की समस्या बहुत जटिल है। शिशु-संगोपन-गृह (प्रिवेंटोरिया) स्थापित करना आसान नहीं है। बच्चों को घर, गाँव और अपने कुटुम्बियों का सहवास अपेक्षित है। उनके पोषण का प्रश्न भी कम जटिल नहीं। यदि गाँव में ही यह काम संघटित किया जाय, तो शायद ज्यादा आसान हो सकता है। बच्चे सारे गाँव की निधि समझी जानी चाहिए। कुष्ठ-परिवार में बच्चे पैदा ही न हों, इस बात की भी कोशिश कई देशों में की गयी है। जापान में कुष्ठ-रोगियों पर कानूनन संतति-निरोध के उपायों का प्रयोग किया जाता है। ईसाई इसे धर्म-विरुद्ध मानते हैं। हमारे देश में भी यह कार्यक्रम असफल ही होगा। वास्तव में इसके लिए कुष्ठ-रोगियों को स्वयं ही संयमित जीवन का सहारा लेना होगा।

(६) **रोग-मुक्त होने पर :** इस रोग में कुपंगुता, अपंगुता

और कुरूपता के अंश छूट जाते हैं। रोग अच्छा हो जाने का प्रमाण-पत्र मिल जाने पर भी समाज उसे स्वीकार नहीं करता—वापस लेने को तैयार नहीं होता। उसके साथ दैनिक व्यवहार नहीं किया जाता। शादी-विवाह, काम आदि की समस्या उसके सामने ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। ऐसे लोगों की औद्योगिक बस्तियाँ बसाने के प्रयत्न भी लोगों ने किये हैं। ऐसी बस्तियों की आवश्यकता से कोई इनकार न करेगा, पर समस्या का हल उतने से नहीं होता। समाज की मनोवृत्ति ठीक दिशा में मोड़ना ही इसका एकमात्र उपाय है।

कुष्ठ-रोगियों के आँकड़े

भारत में कुष्ठ के आँकड़े : कुष्ठ-समस्या का ज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़ी दिक्कत सही आँकड़ों का अभाव है। कुष्ठ-कार्यकर्ताओं को यह अभाव हमेशा खटकता रहा है। भारत, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, चीन जैसे बड़े और इस रोग के बुरी तरह शिकार देशों का कभी सर्वेक्षण पूरा हुआ ही नहीं। इसलिए जो कुछ भी आँकड़े दिये जाते हैं, वे सर्वथा आनुमानिक हैं। सारी दुनिया में ५० लाख से ७५ लाख तक कुष्ठ-रोगियों की संख्या बतायी जाती है। भारतवर्ष में दुनिया के आधे याने करीब २०-२५ लाख कुष्ठ-रोगी होंगे, ऐसा अंदाज किया जाता है।

इसके लिए जल-वायु भी कारण है। गर्म और तर अथवा शीत और तर जल-वायु इसके प्रसार में सहायक होती है। विशेषतः जिन लोगों का जीवन-स्तर निम्न होता है, उनमें इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। जंगल, सड़नेवाले गड्ढे (Breeding-Spots) झील, तालाब जहाँ अत्यधिकता से पाये जाते हैं, वहाँ मच्छड़ आदि भी अधिक होते हैं। वे मनुष्यों को काटते

हैं, जिससे शरीर में खुजलाहट पैदा होती है। परिणामस्वरूप खुरेंटे पड़ जाती हैं, जिनसे कुष्ठ-रोग के जंतु आसानी से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। थोड़ी-सी जगह में सर्दी के कारण होनेवाली अत्यधिक भीड़ भी रोग-प्रसार में मदद करती है। कुछ लोग समुद्री जल-वायु को भी कुष्ठ-रोग-प्रसार के अनुकूल बताते हैं। समशीतोष्ण और शुष्क जलवायु राजयक्ष्मा की भाँति कुष्ठ-रोगी के लिए उत्तम मानी जाती है। उष्ण-कटिबंधीय रोग भी कुष्ठ-रोग-प्रसार में मदद देते हैं। इन सब को ध्यान में रखकर ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुष्ठ-प्रसार देखा जाय।

आसाम	३–५ प्रतिहज़ार
बंगाल	३–५
बिहार पूर्व और दक्षिणी भाग (छोटा नागपुर)	२–३
कहीं-कहीं	५
उड़ीसा	२–३
आंध्र	२–५
तमिलनाड	२–५
उत्तर प्रदेश (पूर्वी हिस्सा एवं तराई)	२–३
मध्य-प्रदेश, रायपुर, छत्तीसगढ़	१–२
बम्बई, तटीय भाग	२–३
पश्चिम तटीय भाग	२–३

राजस्थान, पंजाब, विंध्य-प्रदेश, मध्य-भारत में १ प्रतिशत के नीचे कहीं-कहीं इस रोग का प्रसार पाया जाता है।

विश्व में कुष्ठ के आँकड़े : डॉ० ई० म्यूर के अनुसार विश्व में कुष्ठ के आँकड़े निम्नलिखित हैं :

१. एशिया–महाद्वीप

भारत-पाकिस्तान	१२ लाख
चीन	१० लाख

जापान	१०२,०००
पूर्वीय द्वीप-समूह	१०००००
अन्य	१०१०००
	योग २५२३०००

२. अफ्रीका

नाइजीरिया	४०००००
ब्रिटिश बस्तियाँ	१०१०००
फ्रांसीसी बस्तियाँ (पश्चिम और मध्यभाग)	१०२०००
अन्य फ्रांसीसी बस्तियाँ	१०,०००
बेलजियन् कांगो	२०००००
पोर्तुगीज बस्तियाँ	२६,०००
मिस्र और सूडान	२६०००
ईथोयोपिया	८०००
अन्य	२०००
	योग ८७५०००

३. यूरोप

रूस	१०,०००
स्पेन, पोर्तुगाल	७०००
अन्य	४०००
	योग २१,०००

४. अमेरिका

ब्राजील	५०००
कोलंबिया	३०,०००
अर्जेंटाइना	८,०००
वेनीजुवेला	५०००

मेक्सिको	४०००
युनाइटेड स्टेट्स	२०००
वेस्ट इंडीज्	७०००
अन्य	५०००
	योग १,११०००
दक्षिण प्रशांतीय द्वीप-समूह	१०,०००
	कुल योग ३५४००००

कुष्ठ-रोग का इतिहास और वैशिष्ट्य : ३ :

आयुर्वेद में चर्म-रोग के प्रसंग में 'कुष्ठ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'लेप्रसी' के लिए उसी प्रसंग में 'महाकुष्ठ' शब्द प्रयुक्त है। सिध्म (Tinea Versicularis) और औदुम्बर (Icucoderma) कुष्ठ को यदि महाकुष्ठ की सूची में से निकाल दें, तो शेष पाँच प्रकार आजके वर्गीकरण में समाविष्ट हो जाते हैं। इसका विस्तृत वर्णन वर्गीकरण के परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ इतना ही बताना अभीष्ट है कि यह रोग अतिप्राचीन काल से चला आ रहा है। उपलब्ध प्राचीन वाङ्मय में वेद सबसे पुराना माना जाता है। वहाँ काफी विस्तार से कुष्ठ-रोग का निदान, उपचार एवं वर्गीकरण मिलता है। मिस्र, यूनान, स्पेन, अरब आदि देशों का इतिहास देखने से पता चलता है कि यह रोग अतिप्राचीन है। युद्ध, सैनिक-जत्थे, व्यापारिक सम्बन्ध, धार्मिक यात्राएँ तथा गुलाम लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाना कुष्ठ-रोग को एक देश से दूसरे देश में फैलाने के कारण बने हैं। रोमन लोगों में पोप के धर्मयुद्ध, जर्मनी, स्पेन, ब्रिटेन में रोम-साम्राज्य का विस्तार, अरब लोगों का फ्रांस पर हमला, यूरोप से अमेरिका के लिए बड़ी संख्या में लोगों का जाना, मिस्र में अफ्रीका के नीग्रो लोगों का ले जाना, यूनान और ईरान के सैनिक हमले—ये सब कुष्ठ-रोग के प्रसार में सहायक हुए हैं।

एशिया में इसका प्रसार सबसे अधिक हुआ। भारत, चीन, फिलस्तीन, मलाया, लंका, ईस्ट इन्डीज, आस्ट्रेलिया आदि देशों में इसका प्रसार हुआ। इतिहास साक्षी है कि इस रोग के प्रसार को

यदि रोकना अभीष्ट है, तो कुष्ठ-रोगियों के इधर-उधर घूमने पर प्रतिबंध लगाना होगा। आज विज्ञान के युग में आवागमन के साधन सर्वसुलभ होने की वजह से लोगों का आना-जाना इतना बढ़ गया है कि ऐसा प्रतिबन्ध असंभव-सा लगता है। 'वीसा' लेते समय सावधानी से जाँच करने पर यह काम हो सकता है। लेकिन देश के अन्दर ऐसा नियंत्रण करना कठिन होगा। कुष्ठ-रोगियों को प्रायः तीर्थयात्राओं का बहुत आकर्षण रहता है। बड़े-बड़े मेलों में ये लोग बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो पुण्य कमाने की भावना और दूसरी आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति, जिसके कारण वे घर से दूर भीख माँगकर अपनी गुजर करने की कोशिश करते हैं। किसी सघन क्षेत्र में रोग निर्मूल करने की योजना लागू करते समय इनके आवागमन पर नियंत्रण रखना अनिवार्य होगा।

कुष्ठ-रोग की विचित्रता या वैशिष्ट्य

(१) संचय-काल : कुष्ठ-रोग की गुप्तावस्था अथवा संचय-काल (Incubation Period) प्रायः लम्बा होता है। उसमें विभिन्नताएँ भी होती हैं। अधिक-से-अधिक २० वर्ष और कम-से-कम १ वर्ष में रोग के लक्षण देखे गये हैं। यह अवधि कुष्ठ-रोगी से सम्पर्क और कुष्ठ-रोग के लक्षण दीख पड़ने के बीच की है। औसत काल साढ़े तीन वर्ष का समझना चाहिए।

(२) विषमयता की अत्यल्पता : कुष्ठ-रोग में विषमयता अत्यल्प होती है। उसके जीवाणु बहुत ही कम मात्रा में विष उत्सर्ग करते हैं। परिणामतः दूसरे रोगों की भाँति इसमें ज्वर आदि नहीं होता। कुष्ठ-प्रतिक्रिया के समय जब ज्वर आता है, उस समय विषमयता अवश्य बढ़ती है। लेकिन वह रोग का उपद्रव है, उसका स्वाभाविक लक्षण नहीं।

(३) शनैः शनैः प्रादुर्भाव : कुष्ट-रोग बहुत धीरे-धीरे शरीर में प्रवेश करता है। पहले शरीर पर कहीं छोटा-सा दाग प्रकट होता है। कुछ महीनों या वर्षों के बाद वह बढ़ता है, जिससे रोगी को चिंता होती है। तीव्र-कुष्ट के कुछ रोगी अवश्य ऐसे देखने को मिल जाते हैं, जिनके शरीर पर बहुत कम समय में रोग के लक्षण प्रकट हुए हों। लेकिन वास्तव में जीवाणु शरीर के अंदर बहुत पहले से मौजूद रहते हैं। शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति क्षीण हो जाने पर एकदम लक्षण प्रकट हो जाते हैं। जैसे : किसी गर्भवती स्त्री में प्रसूति के पहले कोई लक्षण न दीख पड़ें और प्रसूति के बाद एकदम सारे शरीर में रोग के लक्षण दीख पड़ें, तो उसका कारण शरीर-शक्ति का ह्रास ही समझना चाहिए। साधारण रूप में इसका प्रादुर्भाव शनैः शनैः ही होता है।

(४) लम्बी अवधि : कुष्ट-रोग जल्दी ठीक होनेवाला रोग नहीं है। आधुनिक उपचार से भी दो से पाँच वर्ष लग ही जाते हैं। इसका स्वभाव ही अधिक लम्बे अर्से तक पकड़े रहने का है। अच्छा हो जाने पर भी पुनरावर्तन न हो, इसके लिए आजीवन सावधानी रखनी पड़ती है।

(५) कुष्ट-जीवाणु का संवर्धन : अभी तक इसके जंतुओं का संवर्धन (Culture) नहीं किया जा सका है। किसी रोग के जीवाणु बाह्य माध्यम में (Media) संवर्धित करने से उनके ऊपर प्रयोग हो सकते हैं। जीवित मनुष्य में ही कुष्ट-जीवाणु बढ़ते हैं, दूसरे किसी प्राणी या पदार्थ में नहीं बढ़ते। इसलिए वैज्ञानिक शोध-कार्य नहीं हो पाया है। परिणामस्वरूप कुष्ट-रोग का उपचार और निर्मूलन भी कठिन बना हुआ है।

(६) कुष्ट-जीवाणुओं का आकर्षण : इन जीवाणुओं का आकर्षण त्वचा और उसमें पायी जानेवाली परिसरीय नाड़ियों

में अत्यधिक होता है। दूसरे किसी भी जीवाणु में यह प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। इसीलिए इस रोग के लक्षण त्वचा और नाड़ी में ही प्रकट होते हैं।

(७) राजयक्ष्मा और कुष्ट : कुष्ट-रोग राजयक्ष्मा के समान माना जाता है। लेकिन यह समानता जीवाणु की शरीर-रचना पर ही अधिक निर्भर करती है। रोगोत्पत्ति और विकृति की दृष्टि से राजयक्ष्मा और कुष्ट में कोई सादृश्य नहीं है। कुष्ट-रोग फुफ्फुस, मस्तिष्क, आँतड़ी आदि में नहीं होता। राजयक्ष्मा की तरह इसके निदान में अधिक यंत्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। त्वचा और नाड़ी-परीक्षा से ही रोग का दर्शन और परीक्षण हो जाता है।

(८) सामाजिक समस्या : कुष्ट-रोग एक सामाजिक समस्या भी है। परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। उपचार और नियंत्रण के कामों में इस बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है।

(९) भ्रामक कल्पनाएँ : कुष्ट-रोगी के प्रति सारी दुनियाँ में काल्पनिक दन्तकथाएँ वहम और भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं।

(१०) कुष्ट-रोग के प्रकार : कुष्ट-रोग दो प्रकार का होता है : तीव्र और सौम्य। तीव्र कुष्ट-रोग अधिक सांसर्गिक होता है। ...

कुष्ठ-रोग की उत्पत्ति : ४ :

कुष्ठ-रोग चिरकालानुबंधी एवं अत्यल्प सांसर्गिक रोग है। इसमें त्वचा, परिसरीय नाड़ियाँ और लस (Lymphatics)-ग्रन्थियों में विकृति होती है। इस रोग का प्रधान कारण कुष्ठ-जीवाणु (Mycobacterium Leprae) होता है। सर्वप्रथम इस जीवाणु का शोध 'हेन्सन' नामक वैज्ञानिक ने किया। इसलिए इस जीवाणु को 'हेन्सन वेसीलस' भी कहते हैं। इसका संवर्धन अभी तक मनुष्य-शरीर से बाहर संभव नहीं हो सका है। कुछ लोगों का खयाल है कि केवल जीवाणुमात्र की उपस्थिति से रोगोत्पत्ति नहीं होती। किसी अन्य जीवाणु की उपस्थिति में ये पनपते या इन्हींमें कोई परिस्थितिजन्य परिवर्तन होता है। जो कुछ भी हो, पर इतना स्पष्ट है कि कुष्ठ-विकृत स्थलों पर ये जीवाणु अवश्य मिलते हैं। इसलिए इन जीवाणुओं को ही कुष्ठ का प्रधान कारण मानना चाहिए।

कुष्ठ-जीवाणु का स्वरूप और गुण-धर्म : कुष्ठ-जीवाणु अम्ल-साहो (Gram positive Acid Fast) हैं। 'झील नेल्सन' पद्धति से रंजन करने पर छोटे-छोटे लम्बे टुकड़े जो अकेले या दो-चार गुच्छों में दिखाई देते हैं, दियासलाई की तिलियों के बण्डल की तरह एक-दूसरे से सटे रहते हैं। इनकी लम्बाई एक 'म्यु' होती है। कभी-कभी दानों में अथवा किनारों परमोटे स्वरूप में भी दिखाई देते हैं। ये बहुरूपी होते हैं। जब गुच्छों में पाये जाते हैं, तब इन्हें पुंज या गोले

(Globi) कहते हैं। ये प्रायः बड़ी-बड़ी कोशाओं के भीतर रहते हैं, जो कुष्ठ-कोशाएँ (Lepra cells) कहलाती हैं।
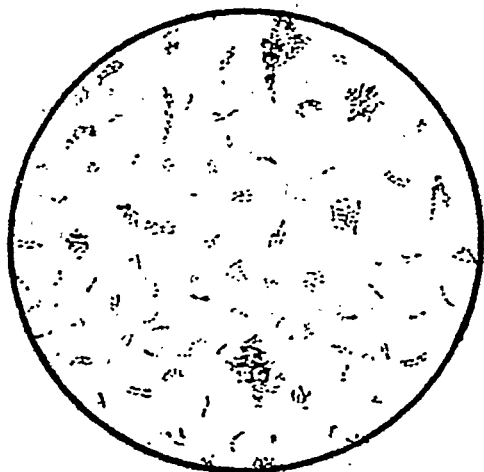
(कुष्ठ-जीवाणु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में इस प्रकार दीखते हैं)

प्रायः राजयक्ष्मा के जीवाणु से इनकी तुलना की जाती है। दोनों का वर्ग अम्लसाही है और शरीर-रचना भी मिलती-जुलती है। इनमें निम्नलिखित विभिन्नताएँ होती हैं :

१. कुष्ठ-जीवाणु अधिक सरल, लम्बे और मोटे होते हैं।

२. ये त्वचा, नाड़ी और नासिका में अधिक पाये जाते हैं। राजयक्ष्मा के जीवाणु थूक में मिलते हैं।

३. इनका स्वभाव दियासलाई की तिलियों की गड्डी की तरह रहने का है। राजयक्ष्मा के जीवाणु अकेले रहते हैं।

४. शरीर के बाहर इनका संवर्धन नहीं हो पाता। पर राजयक्ष्मा में यह संभव होता है।

कुष्ठ-रोग की उत्पत्ति के सहायक कारण

(१) भौगोलिक कारण : भौगोलिक कारणों एवं जलवायु के संबंध में पिछले पन्नों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ऐसा मालूम होता है कि कुष्ठ-रोग का प्रसार उष्ण-कटिबंधीय देशों में अधिक है। सामुद्रिक जल-वायु भी इसके लिए अनुकूल दीखती है। अधिक वर्षावाले प्रदेशों में, जहाँ जंगल अधिक होते हैं, यह रोग अधिक फैलता है। अफ्रीका, एशिया, दक्षिणी अमेरिका इसके मुख्य स्थान हैं।

(२) अवस्था (Age) : कुष्ट-रोग का उपसर्ग बचपन में १४ वर्ष तक अधिक होता है। १४ वर्ष की अवस्था तक शरीर कोमल होता है। यह अवस्था घनिष्ट सम्पर्क के लिए भी बहुत अनुकूल और कुष्ठ-रोग के लिए बहुत ग्रहणशील होती है। लेकिन कोई भी अवस्था कुष्ट-रोग के लिए पूर्ण प्रतिकारक अथवा क्षम (Immune) नहीं समझनी चाहिए। रोग का संचय-काल लम्बा होने के कारण रोगी युवावस्था के अधिक दिखाई देते हैं, लेकिन रोग के जीवाणु बाल्यावस्था में ही शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। किसी भी प्रदेश में कुष्ट-रोग का अनुमान बच्चों की औसत संख्या (Child Rate) से ही लगाया जाता है। कुष्ठ-नियंत्रण और निर्मूलन में इसका ध्यान रखना पड़ता है।

(३) लिंग : लिंग का औसत सौ कुष्ठ-रोगियों पर निकाला जाता है। अनुमान है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को कुष्ट-रोग अधिक (३ : १) होता है। इसके दो कारण बताये जाते हैं, एक तो समाज में पुरुषों का जीवन अधिक व्यस्त, भारयुक्त और विस्तृत होता है, जिसके कारण उनके सम्पर्क अधिक व्यापक होते हैं तो स्त्रियों के सम्पर्क सीमित। दूसरे कुछ आंतरिक

ग्रंथि-स्राव भी दोनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिसका परिणाम शरीर-स्वास्थ्य पर भी पड़ता है।

(४) जाति : संसार की कोई जाति इससे मुक्त नहीं है। आधुनिक सभ्यता से दूर रहनेवाले आदिवासियों में यह रोग कम दिखाई देता है। इधर उच्च सभ्य जातियों में भी इसका प्रकोप कम दिखाई देता है। मध्यम वर्ग के लोग जो न तो पूरे जंगली ही हैं और न पूरे सभ्य ही, वल्कि सभ्यता की दिशा में अग्रसर हैं, उनमें यह रोग अधिक पाया जाता है। लेकिन कुछ जातियों में कुष्ट की तीव्रता में अंतर पाया जाता है। जैसे, मलाया में रहनेवाले चीनी रोगियों में उसका स्वरूप दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। अफ्रीका में भी इसी प्रकार के अनुभव मिलते हैं। इसके मुख्य कारण शरीर-रचना-विज्ञान और सामाजिक परिस्थितियों में भेद ही हो सकते हैं।

(५) परिस्थिति : साधारणतः यह माना जाता है कि कुष्ट-रोग का प्रसार गरीबों और गन्दे लोगों में अधिक होता है। लेकिन धनिक वर्ग के लोगों में भी गन्दगी पायी जाती है। अधिक जन-संपर्क, शुद्ध वायु की कमी, काम करने के गन्दे स्थान, अपर्याप्त और खराव निवास-स्थान आदि इस रोग को बढ़ाने में सहायक होते हैं। फिर भी गरीव और अमीर कोई भी इसके उपसर्ग के खतरे से खाली नहीं हैं।

(६) सामाजिक कुरीतियाँ : एक ही विस्तर पर लेटना, एक ही थाली में खाना, एक ही गिलास से पानी और एक ही नली से हुक्का पीना आदि इस रोग के प्रसार में सहायक होते हैं :

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात् निश्वासात् सह भोजनात्।
सह शय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥
—(सुश्रुत)

(७) आहार-दोष : आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र आहार के विषय में बहुत अधिक नहीं बताता। असंतुलित भोजन सर्वसाधारण के लिए हानिकारक होता है। कुष्ठ-रोग की उत्पत्ति किसी विशेष तत्त्व के अभाव में होती या उसका सहायक कारण बनती है— इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। चावल खानेवाले प्रदेशों में इसकी औसत व्याप्ति (Incidence) ऊँची होती है। मछली खाने से इसका क्या सम्बन्ध है, कहना कठिन है। आयुर्वेद में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। कुष्ठ-रोगोत्पत्ति में आहार-दोषों को भी कारण माना गया है :

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च।
भजताम्........ ॥
शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्।
अजीर्णाध्यशिनां चैव...... ॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ।
—(चरक)

सड़े-गले और वासी अन्न के सेवन का निषेध किया गया है। अधिक पका, कम पका, अपर्याप्त, अत्यधिक आहार आदि दोषों को भी कारण माना गया है।

(८) कुलज-प्रवृत्ति (Inheritance) : रोगी माता-पिता की संतान आज की सम्प्राप्ति के अनुसार अनिवार्यतः कुष्ठ-रोग से पीड़ित नहीं होती। यदि बच्चों का पैदा होने के कुछ ही दिनों बाद रोगी माता-पिता से सम्पर्क न आने दिया जाय, तो उन्हें

कुष्ठ-रोग नहीं होता। लेकिन कुष्ठोत्पत्ति के लिए अपेक्षाकृत अनुकूलता (Predisposing factor) पायी जाती है, जिसके कारण कुष्ठ-रोगी से सम्पर्क आने पर वे औरों की अपेक्षा रोग जल्दी ग्रहण करते हैं।

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्॥

—(सुश्रुत)

आयुर्वेद में इस पर काफी विवाद है। बहुत से लोग इसको आनुवंशिक मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'कुष्ठित' का अर्थ 'संजात कुष्ट' नहीं, वरन् 'कुष्ट-प्रकृति' का समझना चाहिए*।

(६) घनिष्ट सम्पर्क : कुष्टी के साथ अत्यंत निकट, चिर-कालिक सम्पर्क कुष्ठोत्पत्ति का सबसे बड़ा सहायक कारण होता है। विशेषतः बाल्यावस्था में जब यह सम्पर्क आता है, तो वह रोगोत्पत्ति में सहायक होता है। ...

* इस विषय पर अधिक विस्तार से जानने के लिए श्रीभास्कर गोविन्द घाणेकर की सुश्रुत-टीका, सूत्रस्थान, पृष्ठ (१९३-१९४) देखिये।

कुष्ठ-रोग की उपसर्गक्षमता और प्रसार : ५ :

रोग की सम्प्राप्ति : इसके जीवाणुओं का शरीर के बाहर संवर्धन न हो सकने के कारण यह कहना कठिन है कि इस रोग का उपसर्ग किस तरह अथवा किस मार्ग से होता है। शरीर-विकृति की दृष्टि से कुष्ठ के दो प्रधान भेद किये जाते हैं: (१) नाड़ीगत और (२) त्वचागत। दोनों की उपसर्ग-क्षमता में अन्तर है। तीव्र प्रकार के कुष्ठ-रोगी की नाक, श्वासनलिका, मुँह और त्वचा से कुष्ठ-जीवाणुओं का उत्सर्ग होता रहता है। घावों में से अथवा प्रतिक्रिया की अवस्था में यह उत्सर्ग बढ़ता है। ये जीवाणु बाहर जीवित-अवस्था में उत्सर्गित होते और रोग फैलाने में कारण बनते हैं।

उपसर्ग के मुख्य मार्ग और कारण

शरीर में इस रोग का प्रसार अनुमानतः दो मार्गों द्वारा होता है : १. प्रत्यक्ष जीवाणुओं द्वारा और २. कीटकों द्वारा।

१. प्रत्यक्ष जीवाणुओं द्वारा : कुष्ट-जीवाणु त्वचा-मार्ग से शरीर में प्रविष्ट होते हैं। त्वचा पर रगड़, सूक्ष्म क्षत अथवा खरोंच में से इन्हें प्रवेश करने में आसानी होती है। नाखूनों से खुजलाने से नाक, मुँह की श्लेष्मल त्वचा में क्षतों के मार्ग से भी कुष्ट-जीवाणु प्रवेश करते हैं। नाई के उस्तरे से भी जीवाणु-प्रवेश की पूरी सम्भावना रहती है। यह भी सम्भव है कि बिना किसी क्षत अथवा रगड़ के जीवाणु सीधे त्वचा के सम्पर्क मात्र में आने से अन्दर प्रवेश कर जायँ।

२. कीटकों द्वारा : कुछ लोगों का खयाल है कि इसका प्रसार मक्खियाँ, जोंक, मच्छड़, डाँस आदि से होता है। इन कीड़ों की अँतड़ियों में कुष्ठ-जीवाणु पाये जाते हैं। कुष्ठ-रोगी को काटते समय ये अपने अन्दर जीवाणु ले लेते हैं। फिर स्वस्थ मनुष्य को काटते हैं और रोग के जीवाणु वहाँ छोड़ जाते हैं। परन्तु इसके बहुत ही कमप्रमाण मिलते हैं। हो सकता है कि कुष्ठ-रोगी के घाव पर कोई मक्खी बैठे और वहाँ से अपने पैरों में कुष्ठ-जन्तु ले आये और फिर किसी स्वस्थ मनुष्य की त्वचा पर बैठे। फिर उस स्थान पर खुजलाहट पैदा हो और खुजलाने से वे जीवाणु नाखून और त्वचा में लग जायँ।

३. सम्पर्क : बिस्तर, कमरा, घर, पड़ोस पेशा आदि में आनेवाला सम्बन्ध कुष्ठोत्पत्ति का प्रधान मार्ग समझना चाहिए। कुष्ठ-रोगी के बिस्तर, कपड़े इस्तेमाल करना अथवा उसी कमरे में रहना रोग-प्रसार में सहायक होता है। रोगियों का पूर्व-इतिहास लिखते समय अक्सर रोगी सम्पर्क का इतिहास नहीं बताते। इसके दो मुख्य कारण हैं : एक तो इसका संचय-काल बहुत लम्बा होता है, जिसे याद रखना सरल नहीं होता। दूसरा है, इस रोग की अस्पष्ट और अज्ञानमय अवस्था। जब तक उसके चिह्न बाहर दिखाई न देंगे, तब तक न मालूम कितनों को वह रोगी बना चुकता है। फिर भी अनुभव यही बताता है कि ज्यों-ज्यों हम घरेलू सम्पर्कों की देख-भाल गहराई से करते हैं, त्यों-त्यों सम्पर्क का इतिहास मिलता है।

४. बाल्यावस्था : बच्चों में विशेषतः १४ वर्ष की अवस्था तक यह रोग अधिक लगता है। प्राकृतिक रूप से शरीरक्षमता उस समय कम होती है। बच्चों में अज्ञान तो रहता ही है, जिसके कारण वे रोगी के सम्पर्क को नहीं टाल पाते।

५. पानी और मिट्टी से उपसर्ग : जिस प्रकार पानी से बहुत प्रकार के रोग जैसे हैजा, पेचिश आदि होते हैं, वैसे कुष्ठ-रोग की उत्पत्ति नहीं होती। किसी नदी में कुष्ठ-रोगी और स्वस्थ एक-साथ स्नान करें, तब तो कुछ खतरा हो सकता है। लेकिन उसका कारण अन्दर पानी पीने से नहीं होता। शरीर के बाहर से ही रोग-प्रवेश की सम्भावना होती है। उसी तरह जिस जमीन पर रोगी चलते हैं, उस पर नंगे पाँव चलने में खतरे की सम्भावना रहती है। लेकिन जो लोग जूता पहनते हैं, उनके लिए कोई खतरा नहीं होता।

६. वायु और वाहन : छींकने, खाँसने और श्वासोच्छ्वास से उत्सर्गित होनेवाले जीवाणु हवा में आकर यदि सीधे किसी स्वस्थ मनुष्य पर पड़ते हैं, तब रोग-संक्रमण की सम्भावना हो सकती है। साइकिल, रिक्शा, मोटर, ट्रेन एवं सार्वजनिक स्थानों (सिनेमा, पार्क आदि) का इस्तेमाल यदि कुष्ठ-रोगियों द्वारा होता है, और उन्हींका उपयोग स्वस्थ मनुष्य भी करते हैं, तो उनमें रोग-प्रसार की सम्भावना रहती है।

सारांश, कुष्ठ-रोग का उपसर्ग मुख्यतः चार बातों पर निर्भर करता है : १. कुष्ठ-रोगी के साथ सम्पर्क की घनिष्ठता, २. सम्पर्क की कालावधि, ३. रोगी की औपसर्गिक अवस्था और ४. उपसर्ग-ग्रहणशीलता। पीछे उक्त बातों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

कुष्ठ-रोग की संप्राप्ति

तेषु (त्वगादिषु) दोषाः प्रकुपिताः, स्थानमधिगम्य संतिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति।-(चरक)

कुष्ठ के जीवाणु त्वचा-मार्ग से भीतर प्रविष्ट होने पर नीचे के स्तर अर्थात् चर्म में (Dermis-cornium) अवस्थान करते

हैं। वहाँ से ये लस-वाहिनियों द्वारा चारों ओर चक्र के आरों की तरह फैलते और पूरे चर्म और उपचर्म (Hypodermis) को व्यापते हैं। अपिचर्म (Epidermis) में प्राय: नहीं जाते। कुछ जीवाणु समीपवर्ती नाड़ियों में पचकर उसके तन्तुओं में (Tissue) रहते हैं। शरीर का सम्पूर्ण चर्म, परिसरीय नाड़ियाँ, लस-ग्रन्थियाँ, चर्म के स्वेद-पिण्ड, तैल-पिण्ड, केश-पिण्ड आदि में जीवाणु उपसृष्ट होते हैं। श्लेष्मल आवरणों में नासिका, ग्रसनिका, स्वरयंत्र और नेत्रों में भी उपसृष्ट होते हैं। फुफ्फुस, मस्तिष्क, सुपुम्णा, अन्न-नलिका और मांसपेशियों में उपसृष्ट नहीं होते। कुष्ठ-रोग में विपमयता बहुत कम होती है। शरीर के भीतर जो विविध प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन्हींके परिणामस्वरूप लक्षण और उपद्रव उत्पन्न होते हैं। उनके स्वरूप और कारण निम्न प्रकार के हैं :

१. कोशकीय प्रतिक्रिया (Celluler Reaction) : कुष्ठ-रोग के चिह्न और लक्षण याने वैवर्ण्य, चकत्ते, गाँठें, नाड़ी-शोथ आदि स्थानिक धातु-प्रतिक्रिया के परिणाम होते हैं। जहाँ जीवाणु अवस्थान करते हैं, वहाँ और उसके आस-पास अनेक प्रकार की कोशाएँ एकत्र हो जाती हैं। उनके विरुद्ध शरीर की रक्षा के निमित्त ये कोशाएँ काम करती । इसीको 'कोशकीय प्रतिक्रिया' कहते हैं।

२. वैपिक प्रतिक्रिया : कुष्ठ-जीवाणुओं से विप बहुत कम बनता है। जो थोड़ा बहुत बनता है, वह स्थानिक धातु-प्रतिक्रिया में ही समाप्त हो जाता है। सार्वदेहिक विपमयता (Toxaemia) बहुत कम होती है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया (Lepra Reaction) का, जिसमें ज्वर आदि आता है, कारण कहना कठिन है। शायद उसका कारण अज्ञात विषम तत्त्व (Allergy) हो।

३. पौष्टिक प्रभाव का अभाव : परिसरीय नाड़ियों का उनसे संवद्ध अंग-प्रत्यंगों पर पौष्टिक (Trophic) प्रभाव पड़ता है। कुष्ट में ये नाड़ियाँ विकृत होने के कारण उनका पौष्टिक प्रभाव नष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप वैवर्ण्य, सव्रणता, अंगों का गलना, निच्छिद्रक व्रण, (Perforeting Ulcer) आदि पैदा होते हैं।

४. उपसर्ग (Secondary Infection) कुष्ट-रोग में मलेरिया, कृमि, गुप्तरोग, पूयजनक उपसर्ग आदि उपद्रव के स्वरूप में मिलते हैं। मानसिक अवसान, खराब भोजन, गन्दी हवा आदि का परिणाम भी कुष्ट-रोगी पर बुरा पड़ता है।

शारीरिक विकृतियाँ : कुष्ट-जीवाणु के शरीर में प्रवेश करने पर शरीर की धातुओं में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। जीवाणुओं के सम्पर्क में जब क्रियाशील तन्तुकोश आते हैं, तो उनके बीच वास्तव में क्या क्रिया होती है, सो ठीक-ठीक कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि कोशों की संख्या-वृद्धि होती है और उनका अन्तराभरण भी होता है। कुष्ट-जीवाणुओं को वे भक्षण भी करते हैं। इस काम में लसिकायाणुओं (Lymphocytes) का विशेष हाथ रहता है। ये जलकान्तःस्तरीय (Reliculo Endothelial Origin) या रक्त-नलिका में से आते हैं, यह कहना कठिन है। संभवतः विशेष कोष अधिकतर जलकान्तःस्तरीय होते हैं। इस अन्तराभरण की न्यूनाधिकता के अनुसार निम्न प्रकार के विक्षत प्रकट होते हैं :

१. वितत अन्तराभरण (Diffuse Infltration) : इसमें कोशकीय प्रतिक्रिया बहुत ही कम होती है। इसलिए त्वचा पर दृश्य परिणाम कम दिखाई पड़ते हैं।

२. वैवर्ण्य-चक्र या मंडल (Macule) : इसमें कोशकीय

प्रतिक्रिया अधिक होती है। इसलिए गोल, लम्बे और उभारयुक्त चकत्ते उत्पन्न होते हैं।

३. ग्रन्थिका (Nodules) : इसमें कोशकीय प्रतिक्रिया अधिक होती है। इसमें गाँठें बनती हैं। ये सब प्रतिक्रियाएँ कुष्ठ-जीवाणुओं की संख्या और शारीरिक-क्षमता के अनुपात में होती हैं।

विभिन्न कोशाएँ

कुष्ठ-कोशा (Lepra Cell) : जीवाणुओं के प्रतिकार के लिए जो कोशाएँ एकत्र होती हैं, उन्हें भक्षकायाणु (Phagocytes) कहते हैं। ये जीवाणुओं को भक्षण करने का काम करते हैं। शरीर-रचना-भेद से इन्हींमें एक वर्ग स्थूलभक्ष (Macrc-phage) कहलाते हैं। कुष्ठ-कोशों में इनकी अधिकता होती है। भक्षण करने का अर्थ नाश करना नहीं है। ये कोशाएँ जीवाणुओं को केवल अपने में समाविष्ट कर लेती हैं। स्थूलभक्ष और कुष्ठ-जीवाणु दोनों एक-दूसरे के साथ रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उनको अपने अन्दर संख्या-वृद्धि भी करने देते हैं। इसी स्थूलभक्ष को, जिसमें कुष्ठ-जीवाणु खूब भरे रहते हैं, कुष्ठ-कोशा (Lepra cell) कहते हैं। कुष्ठ-रोगी की त्वचा और विकृत श्लेष्मल आवरण पर इन कुष्ठ-कोशाओं की भरमार रहती है। इस सह-जीवन (Symbiosis) के कारण कुष्ठ-जीवाणु नष्ट नहीं होते और न रोगी ही मरता है। बल्कि रोग चिरकालानुबंधी बन जाता है।

फेनिल कोशाएँ (foamy Cells) : जब शरीर की प्रतिकार-क्षमता और भी कम हो जाती है, तो कुष्ठ-कोशाएँ कुष्ठा-णुओं को भक्षित करने का काम भी नहीं कर पातीं। इस प्रकार की अपजनित कोशाएँ 'विरचौ की फेनिल-कोशाएँ' कहलाती हैं।

राक्षस-कोशाएँ (Giant Cell) : कुष्ट में शरीर की सामान्य रक्षक-कोशाएँ बेकार हो जाती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर प्रतिकार नहीं कर सकता। जब शरीर में प्रतिकार का काम होता है, तब और बड़ी कोशाएँ बनती हैं। इन्हें 'राक्षस-कोशाएँ' (Giant Cell) कहते हैं। इनके अन्दर प्रायः कुष्ठ-जीवाणु नहीं मिलते। इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि ये केवल भक्षण का ही नहीं, विनाश का भी काम करती हैं।

शरीर-प्रतिकार-शक्ति के सम्बन्ध में इतना और कहना जरूरी है कि जब शरीर की प्रतिकार-शक्ति कम हो जाती है, तब कुष्ट-जीवाणु स्थानिक प्रतिक्रिया को पार करके शरीर के दूसरे भागों में फैल जाते और शरीर में विकृति पैदा करते हैं। दूसरे प्रकार में जब प्रतिकार-क्षमता अच्छी होती है, तो स्थानिक त्वचा और नाड़ियों तक ही उनका हमला सीमित हो जाता है। इसीलिए पहले प्रकार को 'सार्वदैहिक', 'तीव्र' आदि नाम दिये जाते हैं और दूसरे प्रकार को 'स्थानिक', 'सौम्य' आदि नाम देते हैं।

शरीर-प्रतिकार-क्षमता जानने के लिए 'लेप्रोमिन' परीक्षा का भी प्रयोग किया जाता है। इससे १. कुष्ट-रोगी की प्रतिकार-क्षमता मालूम होती है, २. वर्गीकरण में मदद मिलती है, ३. साध्यासाध्यता का विचार हो जाता है और ४. उपचार में दिशा-निर्देशन का कार्य हो जाता है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

रोग-प्रसार के सम्बन्ध में रोग-प्रकारों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। १०० कुष्ठ-रोगियों में तीव्र-स्वरूप मालूम करने को प्रकार-संख्या (Type Rate) कहते हैं। यह संख्या बहुत विभिन्न होती है। हिन्दुस्तान में ही ५ : १ का अनुपात पाया जाता है। रोग-क्षमता के वर्णन में इस प्रकार का अनुमान लगाया जाता

है कि बहुसंख्यक जनता इस रोग के लिए पर्याप्त मात्रा में क्षम होती है। उनमें रोग उत्पन्न होने के लिए बार-बार उपसर्ग का घनिष्ट सम्पर्क आना चाहिए। रोग उत्पन्न होने पर भी अधिक संख्या (७५ प्रतिशत) सौम्य प्रकार की ही होती है। बहुत थोड़ी संख्या (२५ प्रतिशत) ऐसी होती है, जो थोड़े समय में तीव्र-स्वरूप ग्रहण करती है। इस तरह किसी प्रदेश में तीव्र स्वरूप के रोगियों के सम्पर्क जितने ही अधिक एवं लम्बे होंगे, इस रोग का उतना ही अधिक प्रसार होगा। किन्तु सौम्य प्रकार के रोगी अधिक होने से प्रकार-संख्या कम होगी। ...

कुष्ठ-रोग का वर्गीकरण : ६ :

कुष्ठ-रोग में जो लक्षण प्रकट होते हैं, वे अनेक विभिन्नताएँ रखते हैं। शरीर की प्रतिकार-शक्ति के अनुसार सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार की विकृतियों में अन्तर हो जाता है। कहीं-कहीं प्रदेश-भेद से भी विभिन्न लक्षण दिखाई देते हैं। कुष्ठ-कार्य-कर्ताओं की सुविधा और आदत के कारण भी वर्गीकरण की दृष्टि से अक्सर अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है। प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में कुष्ठ के प्रकार पढ़ने से और भी अधिक सन्देह पैदा होने लगते हैं। अतएव कुष्ठ-रोग का वर्गी-करण करना आवश्यक हो जाता है।

वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित बातों की अपेक्षा की जाती है :

१. वह वैज्ञानिक हो। अर्थात् उसमें रोग की सम्प्राप्ति, लक्षण, विकृत स्थान, जीवाणुओं की उपस्थिति, शरीर-प्रतिकार-क्षमता आदि बातों का समावेश होना चाहिए।

२. वह त्रुटिरहित हो।

३. सुविधानुसार परिवर्तन करने की गुंजाइश हो।

४. सरलता से समझने में आये और उसका प्रयोग भी आसानी से हो सके।

५. सब लोग उसे मान्य करें।

६. प्राचीन मान्यताओं से उसका सम्बन्ध हो।

वर्गीकरण के विषय में जो अनेक मान्यताएँ, मतभेद और समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, उन सबका वर्णन यहाँ करने

की आवश्यकता नहीं है। सर्वत्र आज जो माना जाता है, वही संक्षेप में देने से काम चल जायगा। साथ में जो सारिणी दी जा रही है, उसमें सबके निचोड़ एवं समन्वय की कोशिश की गयी है।

इस सारिणी में आज का वर्गीकरण एक-दूसरे से मिलाते हुए रखा गया है। सारांश, निम्नलिखित तीन चिह्नों से रोज का काम चलाना है :

१. Lepromatous (तीव्र-कुष्ठ) : इसका चिह्न L माना गया है। इसे त्वचागत कुष्ठ, काल-कुष्ठ, तीव्र-कुष्ठ या कुष्ठ-अर्बुदीय भी कहते हैं। इसमें 'लेप्रोमा' याने कुष्ठ-अर्बुद होने से इसका नाम 'लेप्रोमेटस' रखा गया है।

२. Non Lepromatous (सौम्य-कुष्ठ) : इसका चिह्न N माना गया है। यह सौम्य-कुष्ठ, नाड़ीगत कुष्ठ, यक्षिकाभ कुष्ठ आदि नामों से सम्बुद्ध किया जाता है। इसमें कुष्ठार्बुद नहीं मिलते।

३. Mixed (संमिश्र कुष्ठ) : इसका चिह्न N ? L माना गया है।

ये तीन वर्गीकरण भारतीय कुष्ठ-परिषद् द्वारा मान्य किये गये हैं। इनका विस्तार साथ की सारिणी में दिया गया है। दूसरे देशों के वर्गीकरण में थोड़ा अन्तर आता है, उसका भी संकेत इस सारिणी में किया गया है। ...

तीव्र-कुष्ठ : पूर्वरूप, लक्षण और भेद : ७ :

कुष्ठ-रोग के जीवाणु जब शरीर में प्रवेश करते हैं, तो उनका प्रतिकार करने के लिए शरीर में एक प्रतिक्रिया होती है। जब यह प्रतिकार-शक्ति अधिक होती है, तो रोग सौम्य प्रकार का होता है। और उसका विस्तार भी सीमित (Localised) होता है। प्रतिकार-शक्ति कम होने पर रोग का स्वरूप तीव्र और उसके लक्षण सार्वदैहिक (Generalised) होते हैं। प्रतिकार-शक्तिरूप प्रतिक्रिया के कारण बताने के लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है : १. 'एलर्जी' (Allergy) और २. 'एनर्जी' (Anergy)। शरीर में अप्रत्यक्ष तत्त्व पैदा होते हैं, जिनके कारण यह प्रतिकार-शक्ति जगती है। तीव्र-कुष्ठ में यह तत्त्व नहीं रहता, जिससे प्रभावकारी और सामयिक प्रतिक्रिया नहीं हो पाती। इसको 'एनर्जी' कहते हैं। 'एलर्जी' का अभाव या उल्टा 'एनर्जी' होता है।

पूर्वरूप और लक्षण

तीव्र-कुष्ठ में रोगी की प्रतिकार-क्षमता बहुत ही कम होती है। इसलिए रोग का स्वरूप तीव्र होता है और स्थानिक प्रतिकार न होने से सारी त्वचा में और अंशतः परिसरीय नाड़ियों में इसका उपसर्ग व्याप्त हो जाता है। मुख्य स्थान त्वचा ही होता है, इसलिए इसे त्वचागत (Cutanious) कहते हैं। कहीं-कहीं जीवाणु अधिक होने से कोशकीय प्रतिक्रिया अधिक संघर्षमय होती है, इसलिए गाँठें बन जाती हैं। गाँठें उत्पन्न हो जाने पर इसे 'ग्रन्थिल' (Nodular) भी कहते हैं। ये गाँठें काफी मोटी और अनावृत भागों में अधिक होती हैं। इन्हें चीरने से कुष्ठ के जीवाणु अत्यधिक

संख्या में दीख पड़ते हैं। कभी-कभी गाँठें फूट भी पड़ती हैं और उनमें से जीवाणु निकलने लगते हैं। इसलिए इनसे सीधा उपसर्ग फैलता है।

कुष्ठ-रोग में प्रारम्भिक उपसर्ग-स्थान गुप्त ही रहता है। उसे पहचानना भी कठिन हो जाता है। जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश कर जाने पर वे किसी अव्यक्त स्थान पर अपनी वृद्धि करते हैं, जहाँ से अनिश्चित, पर काफी लम्बे समय के बाद शरीर के दूसरे भाग में फैल जाते हैं। इन जीवाणुओं की सार्वदैहिक व्याप्ति का परिणाम यह होता है कि शरीर में, विशेषतः त्वचा में, अनेक 'रुग्णक' (Focii) बन जाते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष लक्षण कुछ भी दिखाई नहीं पड़ते। त्वचागत ये रुग्णक जीवाणुओं के केन्द्र बनते और क्रमशः आस-पास की त्वचा में घुसते हैं। फिर जैसे ही आगे जाकर धातुओं में प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है (तीव्र-कुष्ठ में कुछ देरी में होती है), वैसे ही ये रुग्णक प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं, जिनका स्वरूप या तो चकत्ते में होता है या गाँठों में। ये लक्षण अस्पष्ट अवस्था में होते हैं। जलन, चुनचुनाहट (Tingling Sensation), स्पर्श-असहिष्णुता (Hyperaesthesia) और कभी-कभी मानसिक या शारीरिक उद्वेग या गर्मी के कारण रक्ताभिसरण अधिक होने से त्वचा अधिक लाल दीख पड़ती है। आगे जाकर वह थोड़ी भारी या मोटी भी हो जाती है।

आयुर्वेद-ग्रंथों में इसके पूर्वरूप के विषय में यह कहा गया है :

'अस्वेदनमतिस्वेदनं, पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डुर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्मायणं गौरवं स्वल्पानामपि व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति।' —(चरक)

'सर्वेषु कुष्ठेषु प्रथमं त्वच्यवश्यं वैकृतं भवति विशेषेण, पश्चात् वैशेषिकी दुष्टिः कालप्रकर्षाद्रक्तादिषु भवति ।'

—(चक्रपाणिदत्त)

याने पसीना न आना या अत्यधिक पसीना आना, रूक्षता, अत्यधिक चिकनाहट, विवर्णता, खाज, निस्तोद, शून्यता, जलन, रोंगटे खड़े होना, सूखापन, गरमाहट, भारीपन, साधारण घावों का न भरना—ये कुष्ठ के प्रारंभिक लक्षण हैं ।

सभी कुष्ठों में सर्वप्रथम विशेषकर निश्चय ही त्वचा विकृत हो जाती है । फिर समय के प्रभाव से रक्तादि धातुओं में दोष पैदा हो जाते हैं ।

तीव्र-कुष्ठ के भेद या अवस्थाएँ

तीव्र-कुष्ठ के चार भेद या अवस्थाएँ होती हैं । ये भेद कहीं-कहीं अधिक स्पष्ट नहीं होते :

१. मण्डलयुक्त (Macular) : इसमें त्वचा पर अनेक वैवर्ण्य-युक्त मण्डल दिखाई देते हैं । इनका आकार गोल, लम्बा, बीच में कुछ उभरा हुआ होता है और ये किनारों पर आस-पास की त्वचा में सटे रहते हैं । इनका रंग त्वचा के रंग के अनुसार होता है : काली त्वचा में ताँबे के रंग का और गोरी चमड़ी में हल्के लाल रंग का । स्पर्श-शून्यता बहुत कम होती है । इनका आकार बढ़ता जाता है और जहाँ अनेक संख्या में रहते हैं, वहाँ एक-पर-एक चढ़ते जाते हैं ।

२. वितर्त या अन्तर्भरण (Diffused or Infiltrated) : ये विस्तृत और बड़ी संख्या में मण्डलाकार होते हैं । त्वचा के नीचे गहराई में अन्तर्भरण अधिक होता है, जिससे त्वचा मोटी हो जाती है । इनका रंग मण्डल की तरह ही होता है । पीठ,

पेट, जंघा, भौंह, हनु, कान आदि में विशेष रूप से इनका विस्तार होता है।

३. ग्रंथिल (Nodulation) : इसमें त्वचा में गाँठें पड़ जाती हैं। पहले स्थानिक त्वचा मोटी होती है और वही गाँठों का स्वरूप धारण कर लेती है। गाँठें विशेषकर मुँह, हाथ, पाँव और कानों पर अधिक होती हैं। इस समय नाक की विकृति भी अधिक होती है। मुँह का स्वरूप बदल जाता और चेहरा डरावना हो जाता है।

४. ग्रंथियों का घाव बनना या यों ही सूख जाना (Ulceration or Resolution) : इस समय प्रकृति जीवाणुओं को या तो बाहर निकालकर समाप्त करना चाहती है या स्वयं पचाकर सुखा देना चाहती है। यदि ग्रंथियाँ फूट जायँ, तब तो जीवाणु बाहर निकल जाते और उनके स्थान पर घाव बन जाते हैं। ये घाव भरने में काफी समय ले लेते हैं। यदि ग्रंथियाँ न फूटीं, तो शरीर स्वयं ही उन्हें सुखा देता है। इस क्रिया को 'रिसोल्यूशन' (Resolution) कहते हैं।

त्वचागत अन्य विकृतियाँ : तीव्र-कुष्ठ में त्वचा में नाड़ीजन्य परिवर्तन कम होते हैं। अक्सर रोग बढ़ जाने पर परिणामस्वरूप हाथ-पाँव में नाड़ीजन्य परिवर्तन के लक्षण अधिक प्रकट होते हैं। स्पर्श और पीड़ा (Analgesia) का ज्ञान नहीं रह जाता। गर्म और ठंढे का भी ज्ञान नहीं होता। पौष्टिक तत्त्व का अभाव हो जाता है, जिससे शायद त्वचा, केश और स्वेद-पिण्ड में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं, जिनके परिणामस्वरूप त्वचा पर फफोले पड़ जाते हैं। केश-तन्तु और स्वेद-पिण्डों में होनेवाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप केश गिरते और पसीना भी कम आता है। विशेष रूप से भौंह के बाल गिरने लगते हैं। इनका गिरना पहले

कोनों से शुरू होता है। मध्य के बाल अन्त में गिरते हैं। पसीने की कमी या उसका बिलकुल ही न आना पहले हाथ-पाँव में अधिक स्पष्ट दीखता है। लेकिन चेहरे और पीठ पर अधिक पसीना आने लगता है। केशों की तरह नाखूनों में भी परिवर्तन हो जाता है। ये टेढ़े और छोटे हो जाते हैं। कभी-कभी गिर भी जाते हैं। गाँठों के फूटने या पाँवों के तलुवों में सतत रगड़ से जो घाव होते हैं, वे बड़ी मुश्किल से ठीक हो पाते हैं।

श्लेष्मल त्वचा में परिवर्तन : त्वचा के बाद सबसे अधिक विकृति श्लेष्मल त्वचा में होती है। विकृत स्थानों का परिवर्तन त्वचा के परिवर्तन के समान ही होता है। नाक, मुँह, गला, श्वासनलिका इनकी श्लेष्मल त्वचा विशेष रूप से विकृत होती है। सबसे पहले नाक की श्लेष्मल त्वचा में विकृति होती है। नाक में से खुरचकर तैयार किये गये प्रलेप (स्लाइड) में अन्य लक्षणों के पूर्व जन्तु स्पष्ट दीख पड़ते हैं। रोग के अधिक बढ़ जाने पर नाक के अन्दर गाँठें और व्रण भी हो जाते हैं। आगे चलकर नाक का निचला भाग (Cartilage) नष्ट होता और नाक बैठ जाती है। अन्दर के व्रण भी सिकुड़ने लगते हैं, जिससे श्वास लेने में कठिनाई होती है। फिरंग में नाक की हड्डी नष्ट होती है और उसके कारण नाक का ऊपरी भाग बैठ जाता है। कुष्ठ-रोग में नाक बैठने से आवाज भी बदल जाती है। इसका उपसर्ग आँखों में भी आता है, जिससे अश्रु-नलिका बन्द हो जाती है।

मुँह में विकृति : आरम्भ में मुँह में विकृति नहीं होती, पर आगे जाकर तालु और जिह्वा में अन्तर्भरण होता है और गाँठें निकल आती हैं। स्वर-यन्त्र में भी गाँठें निकल आती हैं, जिनके कारण आवाज बदल जाती है।

श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में विकृति होती है। इसमें अन्तर्भरण और गाँठें होने पर व्रण हो जाते हैं। उनका स्राव थूक में मिल जाने से जीवाणु निकलने लगते हैं।

लसिका-ग्रंथि और आन्तरिक अवयवों में विकृति : लसिका-ग्रन्थि जीवाणुओं को छानने का काम करती है। प्रारम्भिक अवस्था में ये ग्रन्थियाँ जीवाणुओं को पकड़ने की कोशिश करती हैं और ऊपर ले जानेवाली लसिका-वाहनियों में नहीं जाने देतीं। लसिका-ग्रन्थि को चीर कर परीक्षा करने से जीवाणु मिलते हैं।

अण्डकोष (Testicle) में भी विकृति होती और उसके कारण उसके कार्य का ह्रास हो जाता है। स्तनों में गाँठें बन जाती हैं। मज्जा-तन्तु, यकृत् और प्लीहा में भी जीवाणु प्रवेश करते हैं; लेकिन वहाँ रोग-प्रतिकारात्मक क्रिया अधिक होती है। परिणामस्वरूप इनमें कुछ विकृतियाँ आ ही जाती हैं।

तीव्र-कुष्ठ में नाड़ियों में जो विकृतियाँ होती हैं, वे उतनी स्पष्ट नहीं होतीं, जितनी सौम्य-कुष्ठ में होती हैं। लेकिन रोग अधिक बढ़ जाने पर नाड़ी मोटी हो जाती और उसमें पीड़ा होने लगती है। नाड़ी-विकार के परिणामस्वरूप इसमें अपंगपन (Deformities) सौम्य-कुष्ठ से अपेक्षाकृत कम होता है।

आयुर्वेद-ग्रन्थों में इसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं :

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत् कण्डुश्च जायते।
वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते॥
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्।
कण्डुर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते॥

दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ कृमयस्तथा।
गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदःसमाश्रिते॥
नासाभंगोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसंभवः।
भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते॥
कौण्यं गतिक्षयांगानां संभेदः क्षतसर्पणम्।
शुक्रस्थानगते लिंगं प्रागुक्तानि तथैव च॥

—(सुश्रुत)

याने जब कुष्ट त्वचा में फैल जाता है, तब स्पर्शज्ञान का अभाव, पसीना, थोड़ी खुजली, विवर्णता और रूखापन आता है। रक्त में मिल जाने पर त्वचा पर सलवटें, रोमांच, अत्यधिक पसीना, खुजली और पीप आने लगती है। कुष्ट के मांस में मिल जाने पर मोटापन, मुँह सूखना, खरखरापन, फुंसियों का होना, पीड़ा, फफोले और भारीपन हो जाता है। मेद में मिल जाने पर दुर्गन्धि, पीप, कीड़े होना और अंग-अंग फूटना शुरू हो जाता है। कुष्ट हड्डियों और मज्जाओं में मिल जाने पर नासिका-भंग, आँख की विकृति, घावों में कीड़े और स्वरभंग हो जाता है। कुष्ट शुक्र धातु में मिल जाने पर नपुंसकता, अंगों का लूलापन और गिर जाना तथा घाव का बहना या फैलना शुरू हो जाता है।

तीव्र-कुष्ट की प्रतिक्रिया

तीव्र-कुष्ट में कुष्ट-प्रतिक्रिया अधिक होती है। इसमें सभी लक्षण बढ़ जाते हैं। ज्वर, बेचैनी, अग्निमांद्य, सुस्ती आदि जैसे सार्व-दैहिक लक्षण पैदा हो जाते हैं। चकत्ते और ग्रंथियाँ अधिक उभर आती हैं। कुछ नये चकत्ते भी निकल आते हैं। चकत्तों का वर्ण लाल हो जाता है। इस प्रकार रोग का आवेग बीच-बीच में आया

करता है। थोड़े दिनों बाद वह या तो अपने आप ही शान्त हो जाता है या मामूली उपचार से ठीक हो जाता है। इसमें नाड़ी-शोथ, नाड़ी-पीड़ा, हाथ-पैरों में सूजन, संधि-शोथ आदि लक्षण भी पैदा हो जाते हैं। रोगी की मानसिक दशा बिगड़ जाती है। वह शरीर से भी कमजोर बन जाता है। इसकी अवधि विभिन्न होती है। कभी-कभी सप्ताह या महीना लग जाता है। इस समय जीवाणुओं की अत्यधिक वृद्धि होती है। जिसके परिणामस्वरूप शरीर में प्रतिक्रिया भी बढ़ जाती है। इसका परिणाम रोग-सुधार में होता है।

स्वाभाविक प्रतिक्रिया औषधिजन्य प्रतिक्रिया या 'सल्फोन' (Sulphone) की प्रतिक्रिया से भिन्न होती है, जिसका कारण स्पष्ट नहीं दिखाई देता। खुराक में थोड़ा बदल, अधिक श्रम या ऋतुजन्य परिवर्तन से भी प्रतिक्रिया को उत्तेजन मिल सकता है। सल्फोन के कारण होनेवाली प्रतिक्रिया का परिणाम रोग-सुधार में अपेक्षाकृत कम होता है। स्वाभाविक प्रतिक्रिया रोगी को अच्छी दशा में छोड़ती है। सौम्य प्रकार के कुष्ठ-रोग में प्रतिक्रिया कम होती है। उसमें ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी उतने तीव्र नहीं होते। नाड़ी-शोथ, नाड़ी-पीड़ा, चकत्तों का उभार, व्रण, पक्षाघात आदि लक्षण सौम्य-कुष्ठ में ज्यादा होते हैं। •••

सौम्य-कुष्ठ : पूर्वरूप, लक्षण और भेद : ८ :

जब शरीर की प्रतिकार-शक्ति अच्छी होती है, तो रोग का स्वरूप एवं लक्षण सौम्य होते हैं। उस अवस्था में जीवाणु सार्वदैहिक विकृति या उपद्रव पैदा नहीं कर पाते। वे स्थानिक विकृति एवं संबद्ध नाड़ियों में विकृति भर कर पाते हैं। इसमें तीव्र-कुष्ट की तरह जीवाणु निकल नहीं पाते। इसके मुख्य लक्षण इसके अनेक प्रचलित नामों के साथ इस प्रकार हैं :

१. इसका स्वरूप तीव्र न होकर सौम्य होता है। इसलिए इसे सौम्य (Benign) कुष्ट कहते हैं।

२. इसमें नाड़ियों में विशेष विकृति होती है और उसके परिणामस्वरूप वातिक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसे वातिक (Neural) कुष्ट भी कहते हैं।

३. इससे दूसरों को उपसर्ग बहुत कम लगता है; इसलिए इसे असांसर्गिक (Non Contagious) भी कहते हैं।

४. इसमें अर्बुद (Leproma) नहीं बनते; इसे इसलिए अनर्बुदीय (Non Lepromatous) भी कहते हैं।

५. इसमें जीवाणु नहीं निकलते। इसलिए इसे बद्ध-कुष्ठ (Closed Leprosy) भी कहते हैं।

६. इसमें स्वापयुक्त चकत्ते या मण्डल अधिक होते हैं। इसलिए इसे स्वापयुक्त प्रकार (Anaesthetic Type) भी कहते हैं।

७. यह सार्वदैहिक नहीं, थोड़े भाग में ही सीमित होता है। इसलिए इसे 'स्थानिक प्रभेद' (Localised) भी कहते हैं।

८. कोशकीय प्रतिक्रियाओं में जो गाँठें बनती हैं, उनका स्वरूप

यक्ष्मिक (Tubercle) से मिलता-जुलता है। इसलिए इसे यक्ष्मिकाभ (Tuberculoid) भी कहते हैं। इसमें जो स्थानिक चकत्ते होते हैं, उनके किनारे स्पष्ट उभरे और सीमित होते हैं। इसकी गाँठें तीव्र-कुष्ठ की गाँठों से भिन्न होती हैं।

दोनों कुष्ठों का लाक्षणिक भेद दिखलाने की दृष्टि से नीचे मुख्य बातें दी जाती हैं :

दोनों कुष्ठों की तुलना

	तीव्र-कुष्ठ	सौम्य-कुष्ठ
१. गाँठें	(क) दोनों ओर समान स्थानों में होती हैं।	एक ओर अकेले-दुकेले होती हैं।
	(ख) चिकनी, किनारे अस्पष्ट और आस-पास की त्वचा में सटे, मध्यभागमें प्रायः व्रण-रहित होती हैं।	उभरी हुई, किनारे स्पष्ट, सीमित, आस-पास की त्वचा से भिन्न, मध्यभाग चपटा, दबा और प्रायः व्रणयुक्त होता है।
२. चकत्ते	(क) संवेदना में कोई फर्क नहीं।	स्वापयुक्त, स्वेदरहित।
	(ख) संबद्ध नाड़ी प्रायः विकृत नहीं होती।	सम्बद्ध नाड़ी मोटी होती है।
३. कोशकीय प्रतिक्रिया	(क) विस्तृत तथा स्थायी, इसलिए बाह्य लक्षण भी स्थायी होते हैं।	१. कोशकीय प्रतिक्रिया अल्प तथा अस्थायी, इसलिए बाह्य लक्षण न्यूनाधिक।

	(ख) विकृत स्थान में कुष्ठ-कोशाएँ उपस्थित रहती हैं और उनमें कुष्ठ-जीवाणु अत्यधिक संख्या में मिलते हैं।	२. विकृत स्थानों में 'लेंगहेन' की विकट कोशाएँ पायी जाती हैं। उनमें कुष्ठ-जीवाणु नहीं मिलते।
४. कुष्ठार्बुदीय परीक्षा	अव्यक्त (Negative Reaction)।	व्यक्त (Positive Reaction)।
५. विकृत स्थान	त्वचा, श्लेष्मल त्वचा, नेत्र, नाक और यकृतादि अंगों में अधिक खराबी होती है।	परिसरीय नाड़ियों में अधिक खराबी होती है। उससे संवेदनिक (Sensory) परिणाम, वातिक परिणाम, व्रण, अपंगता, हड्डियों का गल जाना, अंगवात आदि लक्षण होते हैं।

सौम्य-कुष्ठ के लक्षण

१. त्वचा में चकत्ते (Hypopigmentation) : इसमें त्वचा में चकत्ते पड़ जाते हैं। इसके पूर्वरूप में सुन्नता, सरसराहट, परिहर्ष आदि वातिक लक्षण पाये जाते हैं। ये चकत्ते वर्ण में फीके, स्पर्शशून्य उष्ण और शीत-ज्ञानशून्य होते हैं। इनके ऊपर के केश झड़ने लगते हैं। पसीना आना बन्द हो जाता है। त्वचा रूक्ष, खर और कर्कश हो जाती है। चकत्तों

से सम्बद्ध नाड़ियाँ मोटी, कठिन, पीड़ायुक्त और आसानी से स्पर्शयोग्य होती हैं। परिसरीय नाड़ियों में अन्तर्वाहुका (Ulnar), पुरोजंघिका (Peroneal) और श्रावणी (Auricular) सबसे अधिक विकृत होती हैं। मध्यबाहुका (Median), बहिर्वाहुका (Radial), वक्त्रा (Facial), जंघिका (Tibial) और ऊर्ध्व-नेत्रगुहा (Supra Orbsital) अपेक्षाकृत कम विकृत होती हैं। प्रारंभ में ये नाड़ियाँ शोथ के कारण मोटी गाँठयुक्त एवं पीड़नाक्षम होती हैं। नाड़ियों की विकृति के कारण उनका पौष्टिक प्रभाव जाता रहता है। इससे त्वचा में फफोले और व्रण होने लगते हैं। इन व्रणों को 'अपुष्टिजन्य व्रण' (Trophic Ulcers) कहते हैं। पैरों के तलुओं में ये व्रण भेदक स्वरूप धारण करते हैं और इन्हें निच्छिद्रक व्रण (Perforating Ulcers) कहते हैं। इसमें मांसपेशियाँ क्षीण हो जातीं और अंगुलियाँ टेढ़ी हो जाती हैं, जिससे मर्कट-सम पंजा (Claw Hand) हो जाता है। अस्थियाँ सूखने लगती हैं। आँखों में 'मन्दाक्षिमीलन' (Lagopthalmos) और 'अर्दित' (Facial Paralysis) हो जाता है। 'पाद-स्रंस' (Foot Drop) और 'मणिवंध-स्रंस' (Wrist Drop) याने टखना और हाथ की कलाई का लूलापन दोनों विकृतियाँ भी नाड़ियों की विकृति के कारण होती हैं।

२. वैवर्ण्य (Hypopigmentation) : यह स्थानिक रंग बनने की प्रक्रिया में असंतुलन होने से होता है। कुष्ठ-जीवाणुओं के कारण यह प्रक्रिया कैसे उत्पन्न होती है, यह कहना कठिन है।

३. स्नेह-स्वेद-पिंड-कार्य-निरोध : इसमें स्नेह-पिंड का कार्य रुक जाता है। इसका कारण कहना कठिन है। संभवतः यह नाड़ीगत विकृति के कारण न होकर रक्त-संचार में रुकावट आने

के कारण ही होता है। स्वेदकार्य में भी विकृति आ जाती है। यह नाड़ी-जाल में विकृति के कारण ही होता है।

४. 'लोमहर्ष' : इसमें लोमहर्ष भी होता है। इसका भी कारण जानना कठिन है। संभवतः इसका कारण नाड़ीगत विकृति ही हो सकती है।

५. स्पर्श-शून्यता : यह विकार नाड़ीगत विकृति का ही परिणाम है। मांसपेशी का क्षीण होना, अंपगता, व्रण आदि का सम्बन्ध रक्त-संचालन से भी है। रक्त-संचार की रुकावट से भी ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि सौम्य-प्रकार के कुष्ट-रोग मे जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनका सम्बंध मुख्यतः दो चीजों से होता है : १. नाड़ियों में विकृति और २. रक्तसंचार में वाधा। इन दोनों के कारण विभिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। नाड़ीगत विकृति में भी नाड़ी-तन्तुओं के अपक्षय के कारण उतनी विकृति उत्पन्न नहीं होती, जितनी नाड़ी के रक्त-संचार में वाधा होने से होती है। रक्त-संचार में वाधा तीन कारणों से आती है १. नाड़ी-तन्तुओं का आन्तरिक दबाव, २. नाड़ी-तन्तुओं में आपसी दबाव और ३. रक्तनलिकाओं में विकृति। सौम्य प्रकार के कुष्ट-रोग के लक्षणों का कारण और स्वरूप दोनों उपर्युक्त तीन वातों से भलीभाँति समझ में आ जाते हैं।

सौम्य-कुष्ठ में प्रतिक्रिया

सौम्य प्रकार में भी कुष्ट-प्रतिक्रिया होती है, लेकिन तीव्र-कुष्ट की प्रतिक्रिया से अन्तर होता है। इसमें चकत्ते मोटे हो जाते हैं, नाड़ियों में अत्यन्त पीड़ा होती है। चकत्ते लाल और क्रियाशील दीखते हैं। तीव्र-कुष्ट की प्रतिक्रिया से जो अन्तर दीखता है, वह निम्न लिखित है :

१. सार्वदैहिक लक्षण : इस प्रकार में ज्वर आदि सौम्य होते हैं, लेकिन नाड़ी-शोथ और वेदना अधिक होती है।

२. इसमें नाड़ियों पर अधिक असर होता है।

३. सौम्य प्रकार में रोगी को प्रतिक्रिया कम होती है, जब कि तीव्र-कुष्ठ की प्रतिक्रिया रोगी को कमजोर बनाती है।

प्रायः सौम्य प्रकार के चकत्तों में जीवाणु नहीं मिलते, पर प्रतिक्रिया की अवस्था में मिल सकते हैं। प्रतिक्रिया के बाद वे गायब हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रतिक्रिया जीवाणुओं का विनाश करती है। ...

सम्मिश्र कुष्ठ के भेद : ६ :

कुष्ठ-रोग के दो प्रकारों, तीव्र और सौम्य का पीछे वर्णन किया गया है। बहुत-से रोगी ऐसे मिलते हैं, जिन्हें इन दोनों प्रकारों में रखना कठिन हो जाता है। उनके लक्षण और सम्प्राप्ति, दोनों उपर्युक्त विशिष्ट लक्षणों से नहीं मिलते। इसलिए इन्हें एक अलग भेद में रखना ज्यादा आसान और उचित होगा। इस प्रकार को सम्मिश्र या अन्यथारूप (Atypical) कहते हैं। इसका कोई अपना विशेष स्वरूप नहीं होता। इसलिए इन्हें 'अनकरेक्टिरिस्टिक' कहते हैं। सुविधानुसार इन्हें निम्नलिखित चार प्रभेदों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) प्रारंभिक : ये कुष्ठ-रोग के प्रारंभ की अवस्था में होते हैं। समय और रोग की प्रगति के अनुसार ये तीव्र-कुष्ठ या सौम्य-कुष्ठ किसी भी प्रभेद में शामिल किये जा सकते हैं। इनके लक्षण बहुत ही अस्पष्ट होते हैं, जिनका पहचानना अत्यंत कठिन होता है। रोगी अक्सर किसी कुष्ठ-रोगी के साथ रहने के कारण शंका-समाधान के लिए आता है। या तो उसके शरीर और चेहरे पर कोई दाग दीख पड़े या एकआध चकत्ता उसके शरीर पर मिल जाय। इन चकत्तों का किनारा न स्पष्ट होता है और न उठा हुआ ही। इनका रंग फीका और किनारों पर लाल-सा होता है। स्पर्श-शून्यता बहुत ही कम होती है। धातु-प्रतिक्रिया भी हल्की होती है। यदि यह प्रतिक्रिया और अधिक स्पष्ट हुई, तो वह दोनों प्रभेदों में से किसी एक में शामिल होने की निशानी है। सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से परीक्षा करने पर जंतु नहीं मिलते। कभी-कभी तो

इस प्रकार के रोगी को स्पष्ट निदान देना भी कठिन होता है। त्वचा की रचनासम्बन्धी परीक्षा (Histological Picture) में गोल-कोशकीय अंतर्भरण होता है। यह रक्त-नलिकाओं के चारों ओर और विशेषतः उपत्वचा में होता है।

(२) अविभक्त (Undifferentiated) : ये पहले प्रभेद की भाँति ही होते हैं। इनमें अंतर इतना ही है कि ये सदा अविभक्त रहते हैं। किसी भी प्रभेद की ओर जाने की इनमें प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। पश्चिमी अफ्रीका में इस प्रकार के रोगी बहुत मिलते हैं।

(३) माध्यमिक (Intermediate or Transitional or Borderline Cases) : सौम्य-कुष्ठ जब तीव्र-कुष्ठ में बदलता है, तब की यह अवस्था होती है। तीव्र-कुष्ठ भी सल्फोन-उपचार से सौम्य-अवस्था में आता है। कभी-कभी इस बीच की अवस्था में दोनों प्रकार के लक्षण मिलते हैं।

(४) अंतिम अवस्था (Terminal) : जब कुष्ठ रोग-अच्छा होने की स्थिति में होता है, तब उसके विशिष्ट लक्षण समाप्त हो जाते हैं। गाँठें सूख जाती हैं। मोटी त्वचा सिकुड़कर ढीली पड़ जाती है। मोटे चकत्ते हल्के रंग के दाग बन जाते हैं। कुष्ठ-जीवाणुओं की उपस्थिति अनिश्चित हो जाती है। कुछ चकत्ते क्रियाशील रहते हैं। ...

नाड़ी-शोथ

: १० :

कुष्ट-रोग में नाड़ी-विकृति के कारण अनेक उपद्रव और कष्ट-दायक परिणाम होते हैं। हाथ और पैर की उंगलियों का टेढ़ा होना, गिर जाना तथा चेहरे की मांस-पेशियों का सूख जाना या पक्षाघात, ये सब नाड़ियों में विकृति होने के परिणामस्वरूप होते हैं। कुष्ट-जंतु नाड़ियों में जाकर नाड़ी-तंतुओं में दबाव और अवरोध उत्पन्न करते और उसीसे ये उपद्रव पैदा होते हैं। यों तो तीनों प्रकार के कुष्टों में हाथ-पैरों की विकृति पायी जाती है, लेकिन सौम्य प्रकार में यह अधिक मात्रा में दीखती है। तीव्र-कुष्ट में अंत में ये नाड़ीगत विकृतियाँ पायी जाती हैं। आम तौर पर अन्तर्बाहुका और पैर में पुरोजंघिका ये दो ही नाड़ियाँ विकृत होती हैं, जिसके कारण हाथ-पैर में पौष्टिक प्रभाव और स्पर्श-ज्ञान समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप अनेक उपद्रव पैदा होते हैं।

नाड़ी में प्रवेश का मार्ग : नाड़ियों में उपसर्ग अधिकतर पास की विकृत त्वचा में से जाता है। जानेवाली नाड़ी अपने साथ उपसर्ग ले जाती है। लेकिन कभी-कभी सीधे रक्त-नलिकाओं में से भी बड़ी नाड़ियों में उपसर्ग पहुँच जाता है। हाथ के पंजे के ऊपरी भाग में चकत्ता होने से कलाई के पास की अन्तर्बाहुका और बहिर्बाहुका की शाखाएँ मोटी हो जाती हैं। ऊपर जाकर सिर्फ अन्तर्बाहुका कोहनी के पास मोटी मिलती है।

नाड़ी-शोथ के लक्षण

(१) **स्पर्शशून्यता :** हाथ-पैर में अन्तर्बाहुका और पुरोजंघिका नाड़ियाँ विकृत होने से उनके द्वारा सिंचित क्षेत्रों में स्पर्शशून्यता,

पीड़ा-ज्ञान-हीनता और शीत-उष्ण-ज्ञान का अभाव पैदा हो जाता है।

(२) **छोटी मांसपेशियों का सूख जाना :** आनेवाले और पुष्टिकर नाड़ी-जाल के अवरोध से मांस-पेशियाँ सूख जाती हैं। स्पर्शशून्यता के कारण भी मांस-पेशियों का काम नहीं हो पाता। अपंगता आ जाने से मांस-पेशियों का काम बिगड़ जाता है।

(३) **हड्डियों का गलना :** हाथ-पैर की आगे की उंगलियाँ मुलायम और कमजोर हो जाती हैं। यह मांस-पेशियों के सूखने तथा नाड़ियों की विकृति के कारण होता है। वाह्य चोट या दवावों से इन मुलायम हड्डियों की जगह घाव और उपसर्ग होते रहते हैं, जिनके परिणामस्वरूप हड्डियाँ गलती जाती हैं।

अन्तर्वाह्य उपद्रव

हाथ के उपद्रव : नाड़ी-शोथ के परिणामस्वरूप सबसे पहले हाथ में स्पर्शशून्यता आती है। छोटी अंगुली को सीधा करने में दिक्कत होती और हाथ में भारीपन आ जाता है। उसके वाद मांस-पेशियाँ सूखने लगती हैं, विशेषतः अंगूठे और छोटी अंगुली के पास हथेली में मांस सूखने लगता है। फिर अंगुलियों के जोड़ों पर तनाव पड़ता है और 'वन्दर-पंजा' वन जाता है। रक्त-संचार मांस-पेशियों में रहता है, इसलिए ठूँठ अंगुली भी कुछ-न-कुछ काम करती ही रह सकती है।

पैर के उपद्रव : पैर के तलुवे में निच्छिद्रक व्रण वन जाते हैं, जिनसे वहुत तकलीफ होती है। ये व्रण विशेषकर उन्हीं स्थानों पर होते हैं, जहाँ अधिक दवाव पड़ता है। जैसे, अंगूठे के पास का निचला भाग। ये व्रण वाह्य स्तरवाले और गहरे स्तरवाले दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इनकी लापरवाही से हड्डियों में भी सड़ने-गलने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पैर का दूसरा उपद्रव

पांवों के पंजों का लूलापन (Foot Drop) है, जिससे लँगड़ाकर चलना पड़ता है। इन दोनों उपद्रवों के कारण रोगी को चलने में बड़ी तकलीफ होती है। इन व्रणों के कारण पूयजनित उपसर्ग लगता रहता है, जिसका जहर शरीर में भी अन्यत्र फैलता रहता है, जिससे सार्वदैहिक दौर्बल्य बना रहता है।

चेहरे के उपद्रव : चेहरे का भारी हो जाना (Mask Face), होठों का लटक जाना (Flaccid Lips) और 'मन्दाक्षिमिलन' या पलकों का विकृत होना (Lagopthalmos) ये तीन उपद्रव चेहरे पर विशेषकर होते हैं। वक्त्र-नाड़ी में जीवाणु प्रविष्ट होने से कुछ रोगियों में पूरा या एकपक्षीय पक्षाघात भी हो जाता है। चेहरे के भारीपन में से धीरे-धीरे मांस-पेशियाँ सूखती हैं। होठों के पक्षाघात से मुँह से लार टपकती रहती है।

नेत्र के उपद्रव : तीव्र-कुष्ट और सौम्य-कुष्ट दोनों में आँखों में उपद्रव एवं विकृति होती है। तीव्र-कुष्ट में आँखों के गोलों में विकृति होती है। जीवाणु सीधे आँखों में प्रवेश करते हैं। पर सौम्य-कुष्ट में चकत्ता आँख के ऊपर से गुजरता है, जिसके कारण पलकों पर अपुष्टिकर परिणाम होता है। 'मन्दाक्षिमिलन' उसीका परिणाम होता है। तीव्र-कुष्ट में जीवाणु पलकों में शायद लस-वाहिनियों द्वारा प्रवेश करते हैं। रक्त-वाहिनियों द्वारा भी उपसर्ग होता है। कभी-कभी सीधे भी उपसर्ग हो जाता है।

बाह्य स्तर में : 'कंजन्कटाइवा' में दो प्रकार की विकृतियाँ होती हैं : १. 'पंग्टेट कैरेटेटिस' और २. 'कैरेटेटिस विथ पेनेल'। गहराई में 'स्क्लेरा', 'कार्निया' आदि में विकृति होती है। 'ऐरिस' में शोथ और गाँठें पड़ जाती हैं।

आँखों में कुष्ट-प्रतिक्रिया बड़ी भयानक होती है। तीव्र वेदना, 'फोटो फोबिया' और ज्योतिनाश जैसे भयंकर परिणाम होते हैं।

सौम्य-कुष्ट में सीधा प्रहार नहीं होता। 'मन्दाक्षिमिलन' में रोगी पलकें पूरी बन्द नहीं कर पाता। विशेषतः जब सोता है, तो पलकें खुली या अधखुली ही रहती हैं। कार्निया के ज्ञानतन्तुओं (Reflexes) का ह्रास हो जाता है। आँख–पुतलियों का रक्षात्मक कार्य भी आंशिक रूप से नष्ट हो जाता है, जिसके कारण आँखों में गर्द, कचरा, चोट लगना या उपसर्ग बहुत होता रहता है। अश्रु-यन्त्र में भी विकार आ जाता है। आँसू कम निकलते हैं, जिससे आँखें सूख जाती हैं और उसकी गंदगी साफ नहीं होती। कभी-कभी आँसुओं की नलिका बन्द हो जाती है, तो नाक से पानी निकलने लगता है। ...

कुष्ठ-रोग का निदान

कुष्ट-रोग बढ़ जाने पर उसके निदान करने में कठिनाई नहीं होती। लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में जब रोग के निदान की आवश्यकता पड़ती है, तब रोग पहचानना बड़ा कठिन हो जाता है। दो तरह से निदान किया जाता है : एक तो लक्षणों को देख-कर और दूसरा जीवाणुओं की परीक्षा कर। सौम्य प्रकार के कुष्ट-रोगियों में· लक्षणों का ही महत्त्व अधिक होता है, तो तीव्र प्रकार में जीवाणु-परीक्षा का। सन्देहात्मक प्रसंगों में धातु-परीक्षा एवं अन्य त्वचा-परीक्षाएँ की जाती हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

कुष्ट-रोग का निदान निम्नलिखित दो पद्धतियों से किया जाता है : १. लाक्षणिक (क्लिनिकल) और २. जीवाणु-परीक्षा (बैक्टिरियोलाजिकल)।

लाक्षणिक पद्धति

तीव्र प्रकार का रोगी बड़ी अवस्था में दूर से देखते ही पहचाना जा सकता है। उसके चेहरे पर उभरी हुई गाँठें, मोटी भौंहें, लटके लम्बे कान, ठोढ़ी और नाक पर मोटापन, पीठ पर सटे हुए चकत्ते आदि स्पष्ट लक्षण दीख पड़ते हैं। हाथ-पैर पर सलवटें आदि देखकर भी निदान करना आसान होता है। कालाजार (लेशमेनियासिस) के रोगी से कभी भ्रम हो सकता है। अन्यथा दूसरा कोई भ्रम करानेवाला रोग नहीं है।

सौम्य प्रकार में बदन पर संज्ञाशून्य और विवर्णयुक्त चकत्ते पाये जाते हैं। उन चकत्तों के बाल गिरना, पसीना बन्द होना, सम्बद्ध परिसरीय नाड़ियों में शोथ और पीड़ा होना, नाड़ी-मार्ग

में सरसराहट आदि लक्षणों से निदान किया जा सकता है।

संक्षेप में कुष्ठ-रोग के लाक्षणिक संकेत ये हैं : १. त्वचागत परिवर्तन, जो दृश्य और अनुभाव्य होते हैं। २. सांज्ञिक परिवर्तन, जो चकत्तों या विकृत नाड़ी-मार्गों में होते हैं। ३. त्वचा में पौष्टिक प्रभावशून्यता-जन्य परिवर्तन, जैसे पसीना वन्द हो जाना, केश गिर जाना आदि। ४. नाड़ियों में शोथ और पीड़ा होना।

त्वचागत परिवर्तन : तीव्र-कुष्ठ में चकत्ते लाल या फीके होते हैं। जहाँ-तहाँ अन्तर्भरणीय रुग्णक, गाँठें और स्थान मोटे हो जाते हैं। ये रुग्णक एक दूसरे से सटे और चढ़े रहते हैं। सौम्य प्रकार में चकत्ते अलग-अलग, रूक्ष और स्पष्ट प्रकार के होते हैं। 'टुवरक्लायड' प्रकार में चकत्ते उभरे और मोटे होते हैं।

सांज्ञिक परिवर्तन : संज्ञाजन्य, वेदनाजन्य और शीतोष्ण के ज्ञानसंवंधी परिवर्तन होते हैं याने इनका ह्रास हो जाता है।

संज्ञाजन्य परिवर्तन जानने के लिए निम्नलिखित परीक्षाएँ काम में लायी जाती हैं :

(१) स्वाप-परीक्षा (Feather Test) : रोगी को आँखें वंद करके वैठा दें और हल्का पंख, रुई का टुकड़ा, कागज या घास का तिनका किसीसे भी उसकी त्वचा को स्पर्श करें। प्रथम स्वस्थ त्वचा पर वार-वार स्पर्श करें और रोगी को वार-वार स्पर्शविन्दु पर अँगुली रखने को कहें। फिर वीच-वीच में संदेहात्मक स्थान का स्पर्श किया जाय और उसकी प्रतिक्रिया को ध्यान से देखा जाय कि हल्का भी संज्ञा-ज्ञान है या नहीं। इस तरह संज्ञाशून्य स्थान को जाना जा सकता है।

(२) वेदनाजन्य परीक्षा (Two pin Test) : जहाँ स्वाप-परीक्षा अभावात्मक होती है, प्रायः वहाँ यह परीक्षा भावात्मक

होती है। बराबर नाप की दो छोटी पिनें लें। दोनों की नोक बराबर तेज हो। रोगी की आँखें बन्द करें। फिर वे दो जगह चुभायी जायँ और रोगी से यह मालूम किया जाय कि किस केन्द्र पर वेदना अधिक हुई और किस पर कम। फिर स्वस्थ और संदेहात्मक स्थान पर एक साथ उन्हीं पिनों को चुभाया जाय और उसका वेदना-ज्ञान मालूम किया जाय। इस तरह बार-बार पिनें चुभा कर देखने से वेदना-ज्ञान मालूम किया जा सकता है। रोगयुक्त त्वचा पर वेदना कम मालूम होती है। तीव्र-कुष्ठ में इसका प्रायः अधिक उपयोग होता है।

(३) शीतोष्णताजन्य परिवर्तन : इसे जानने के लिए शीत और उष्ण परीक्षा-नलिकाएँ उपयोग में ली जाती हैं। एक में ठंडा और एक में गर्म पानी भरकर इनका उपयोग होता है। बार-बार स्पर्श करने से परिणाम मालूम किया जाता है। पौष्टिक प्रभावशून्यता-जन्य परिवर्तनों का जिक्र पीछे किया जा चुका है। पहले पसीने के लिए 'पैलोकार्पिन' के इञ्जेक्शन देकर परीक्षा की जाती थी, किन्तु आजकल उसकी जरूरत नहीं समझी जाती। धूप में थोड़ी देर खड़ा कर देने मात्र से मालूम हो जाता है कि पसीना कहाँ आता है और कहाँ नहीं।

(४) नाड़ियों का मोटा होना और उनमें पीड़ा होना : इन दोनों लक्षणों का एक साथ मिल जाना बड़ा विशिष्ट और महत्त्व का माना जाता है। इस प्रकार प्रायः अन्य किसी रोग में नहीं मिलता। नाड़ी-शोथ कभी अन्यत्र मिल भी जाय; लेकिन कुष्ट-रोग में, विशेषतः सौम्य प्रकार में वह विशेष स्वरूप में मिलता है। ज्यादातर हाथ, पैर, मुँह, गर्दन, पीठ आदि स्थानों में विशेष-रूप से नाड़ी-शोथ पाया जाता है। दबाने से पीड़ा मालूम होती है। बड़ी नाड़ियों में 'अलनर' नाड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है;

जिसमें अक्सर शोथ मिलता है। दोनों तरफ की नाड़ियाँ एक साथ देखनी चाहिए और केहुनी से काँख तक मिलाना चाहिए। रोगी के सामने खड़े होकर, उसके दोनों हाथों को सीधा कर थोड़ा मोड़ें। धीरे से केहुनी पर भी थोड़ा मोड़ें। इस तरह नाड़ी पकड़ी जा सकती है। उसका मोटापन तथा वेदना का पता लग सकता है।

दूसरी नाड़ियाँ 'रेडियल' हैं, जो हाथ की कलाई के ऊपर बाहर की ओर मिलती हैं। माध्यमिक नाड़ी भी हाथ में ही बीच में मिलेगी। श्रावणी नाड़ी गर्दन में जबड़े के नजदीक से और ऊपर कान की हड्डी तक मिलती है। पुरोजंघिका नाड़ी घुटने के पीछे से गुजरती है। वहाँ दबाने से इसका पता चल जाता है।

जीवाणु-परीक्षा पद्धति

कुष्ठ-रोग के निदान की प्रामाणिक पद्धति सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा जीवाणु-परीक्षा है। जीवाणुओं की उपस्थिति निश्चित रूप से कुष्ठ-रोग की उपस्थिति का ज्ञान कराती है, भले ही फिर कोई अन्य लक्षण दिखाई न पड़ें। जीवाणु-परीक्षा के लिए आवश्यक साधन और अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। साधनों में सूक्ष्मदर्शक यंत्र का, जिसका विस्तृत वर्णन विशिष्ट पुस्तकों को देखने को मिल सकता है, ज्ञान नितांत आवश्यक है, ताकि यंत्रों का उपयोग ठीक तरह कर सकें।

साधारण कुष्ठ-कार्य के लिए नैदानकीय प्रयोगशाला में निम्नलिखित वस्तुएँ आवश्यक हैं: १. सूक्ष्मदर्शक यंत्र (आयल इमरशनलेंस के साथ), २. छोटी एवं तिरछी कैंची, ३. शल्य-चिकित्सा में उपयोग में आनेवाली छुरी, ४. काँच की पट्टियाँ, ५. काँच पर नम्बर डालनेवाली पेंसिल, ६. कान पकड़नेवाला क्लेम्प, ७. स्प्रिट लैम्प, ८. स्लाइड स्टैंड, ९. बालसम तेल,

१०. झाँईलाल, ११. कार्बल फुक्शीन रंग, १२. मैथलीन ब्ल्यू रंग, १३. गंधक का तेजाब, १४. स्वच्छ जल, १५. रिकार्ड-बही और १६. स्वाप हैंडिल।

परीक्षा के लिए द्रव्य इकट्ठा करना : साधारण तौर पर रोगी की नाक के अंदर पिछले भाग से द्रव्य इकट्ठा करते हैं। इसके अलावा जहाँ चकत्ता होता है, उसके किनारे की त्वचा काटकर काँच की पट्टी पर रगड़ते हैं। कोई-कोई लटकते हुए कान के भाग से भी द्रव्य इकट्ठा करते हैं। एक काँच की पट्टी पर ३-४ जगह का द्रव्य आसानी से इकट्ठा किया जा सकता है।

नासिका से द्रव्य इकट्ठा करना : नासिका में से द्रव्य इकट्ठा करते समय रुई का फाहा प्रयोग में नहीं लाना चाहिए, क्योंकि ऊपरी सतह पर जब तक घाव नहीं होता, कुष्ठ-जीवाणु नहीं मिलते। इसलिए तार जैसे नुकीले शस्त्र का ही प्रयोग करना चाहिए। तेज लंबे चाकू से भी अन्दर की श्लेष्मल त्वचा खुरची जा सकती है। रक्त कम-से-कम आये, इसका ध्यान रखें। फिर उस खुरची हुई श्लेष्मल त्वचा को काँच की पट्टी पर रगड़ दें।

त्वचा से द्रव्य इकट्ठा करना : इसमें सबसे अधिक ध्यान स्थान चुनने पर देना चाहिए। किसी स्पष्ट चकत्ते या गाँठ पर से ही द्रव्य लें। इनके अभाव में कान के लटकते भाग के किनारे पर से द्रव्य लें। ग्रन्थियों में तो खूब जीवाणु भरे रहते हैं। चकत्तों के किनारे पर से द्रव्य लेने पर जीवाणु अधिक मिल जाते हैं। द्रव्य लेते समय त्वचा को खूब दबाकर रक्तविहीन कर देना चाहिए।

त्वचा से द्रव्य इकट्ठा करने के कई तरीके : (१) छेदन-पद्धति : इसीको 'स्लिप' या 'क्लिप मैथड' भी कहते हैं। त्वचा को स्प्रिट से अच्छी तरह साफ कर दें। फिर उतने भाग को

चिमटी से पकड़ कर ऊपर उठा लें। टेढ़ी कैंची से थोड़ा भाग काट लें। अन्दर का भाग काँच की पट्टी पर रखकर रगड़ दें।

(२) लेखन-पद्धति : इसे 'स्लिट' या 'स्क्रेपिंग' पद्धति भी कहते हैं। त्वचा को उसी तरह स्प्रिट से स्वच्छ कर दें। तेज चाकू से दो तीन मिलीमीटर गहरा चीरा लगा दें। उस चीरे हुए भाग की सतह में से थोड़ा खुरच कर स्राव को काँच की पट्टी पर रगड़ दें।

(३) 'पंचर'-पद्धति : त्वचा को टेढ़े 'क्लेम्प' से कसकर पकड़ लें। जब दबाव से त्वचा रक्तविहीन हो जाय, तब मोटे मुँहवाली इंजेक्शन सूई से दो-तीन छेद करें। उसमें से रस-स्राव निकलेगा। उसीको लेकर काँच की पट्टी पर फैला दें। कहा जाता है कि इस तरह से अधिक जीवाणु दीख पड़ते हैं।

(४)'कटिंग पंच'–पद्धति : इसमें एक विशेष 'बायोप्सी' कैंची से गहरा तन्तु काटा जाता है। फिर उसे चाकू से काँच की पट्टी पर फैला देते हैं।

इन सभी पद्धतियों में पहली पद्धति से जीवाणु मिलने की संभावना अधिक रहती है। लेकिन दूसरी पद्धति याने लेखन से आसानी यह रहती है कि इसमें त्वचा का भाग नहीं जाता और कई जगहों से एक ही समय द्रव्य इकट्ठा किया जा सकता है। रोगी को तकलीफ भी कम होती है। निषेधात्मक परिणाम घोषित करने से पहले कई बार जाँच करनी चाहिए।

लसग्रन्थि-छेदन : त्वचा और नासा में जीवाणु न मिलने पर कुछ लोग लसिका-ग्रन्थि को परीक्षा के लिए लेते हैं। दो 'सी० सी० सीरिंज' में थोड़ा 'नॉर्मल सलाइन' लेते हैं। फिर जाँघ की ग्रन्थि को अंगूठे और अंगुली के बीच पकड़कर सूई अन्दर डालते हैं। 'नॉर्मल सलाइन' को अन्दर डालकर फिर वापस बाहर खींचते

हैं। फिर उस स्राव को काँच की पट्टी पर फैलाकर प्रलेप तैयार करते हैं।

काँच की पट्टी पर स्राव का प्रलेप तैयार करना : १. सर्व-साधारण पद्धति : इसे 'झिलनिलसन-पद्धति' कहते हैं। अधिकतर इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इसमें सुविधा भी है और समय भी कम लगता है। सर्वप्रथम काँच की पट्टी पर स्राव फैलाकर उसे सुखा लेते हैं। फिर उसे 'स्प्रिट-लैम्प' की ज्वाला पर घुमा-घुमाकर गर्म कर स्थिर करते हैं। गर्म होने की ठीक पहचान यह है कि हाथ के ऊपरी भाग पर काँच की पट्टी को रख-रखकर देखना चाहिए। सहने लायक गर्म करना चाहिए। ध्यान रहे कि जिस तरफ स्राव फैलाया गया है, वह ऊपर की ओर रहे। पश्चात् काँच की पट्टी को एक स्टैंड पर रखें। प्रत्येक प्रलेप पर चौकोर सोख्ता कागज का टुकड़ा रख दें। उसके ऊपर 'कार्बल फुक्शीन' की बूँदें डालें। उतना ही रंग डाला जाय, जितना कि वह सोख्ता कागज के बाहर न जा सके। नीचे से भाप निकलने तक गर्म करें। फिर दस मिनट तक इसी तरह छोड़ दें। तब स्वच्छ पानी से साफ करके दस प्रतिशत 'गन्धक का तेजाब' डालें और पानी से बार-बार धोयें। लाली साफ होने पर मैथलीन ब्ल्यू रंग डालें। दो मिनट के बाद धोकर सुखा लें।

२. कैस्ट्रो की पद्धति : इस पद्धति से अधिक जीवाणु दीखते हैं। इसका प्रयोग विशेष अवसर पर करना चाहिए। इससे जीवाणु के टुकड़े भी दीख जाते हैं। इस पद्धति का वर्णन देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

स्राव की परीक्षा : सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के १/१२ तैलीय लेंस से, जो निम्न शक्ति का हो, जीवाणु देखने चाहिए। जरूरत पड़ने

पर परिणामों की पुष्टि उच्च नम्बर के लेंस से भी कर सकते हैं।

तीव्र-कुष्ठ प्रकार के चकत्तों में जीवाणु अवश्य मिलते हैं। अधिक बड़े चकत्ते या ग्रन्थियों में जीवाणु बहुत संख्या में और गुच्छों में मिलते हैं। जैसे-जैसे रोग अच्छा होता जाता है, जीवाणु की संख्या कम होती जाती है। गुच्छों का मिलना बन्द हो जाता है और रंग भी कम ग्रहण करते हैं। फिर जीवाणु टुकड़ों में मिलने लगते हैं।

सौम्य प्रकार के कुष्ठ-रोग में मोटे चकत्तों में प्रायः एकआध जीवाणु मिल जाता है। विशेषतः क्रियाशील अवस्था में जीवाणु मिलते हैं। ज्योंही क्रियाशीलता कम हुई, जीवाणु नहीं मिलते।

जीवाणु की रचना में बहुत प्रभेद पाये जाते हैं। रोग की क्रियाशीलता और रंजन का भी बहुत असर पड़ता है। 'कुष्ठ-प्रतिक्रिया' में जीवाणु दानेदार या सिरों पर अधिक स्पष्ट और बीच में कम रंगे हुए दिखाई देते हैं। प्रारम्भिक अवस्था के रोगी में जीवाणु की उपस्थिति संदेहात्मक रहती है।

नाड़ी-तन्तु-परीक्षा : प्रारंभिक और संदेहास्पद रोगी में जब त्वचा में जीवाणु नहीं मिलते और स्थानिक लक्षण भी अस्पष्ट रहते हैं, तो उस चकत्ते से संबद्ध नाड़ी का छोटा-सा टुकड़ा लेकर प्रलेप बनाया जाता है। मज्जा-व्रण से भी प्रलेप बनाने का रिवाज था। इनको साधारण ढंग से रंगकर परीक्षा करते हैं।

जीवद्वीक्षण (Biopsy) : जब ऊपर के तरीकों से निदान करने में दिक्कत हो, तो त्वचा की रचना का परीक्षण करना चाहिए। वर्गीकरण के लिए भी इसका उपयोग करते हैं।

कुष्ठिन प्रतिक्रिया का उपयोग भी कुष्ठ की संभावना एवं प्रकोप जानने में किया जाता है। इसका वर्णन अन्यत्र किया जायगा।

कुष्ट-रोग से मिलते-जुलते अन्य चर्म-रोग भी होते हैं। आयुर्वेद में तो सभी चर्म-रोगों को कुष्ट-रोग में ही गिन लिया गया है। इससे और भी भ्रांति होती है। यों कुष्ट-रोग के तीन मुख्य लक्षण एक साथ अथवा उनमें से कोई एक दीख जाय, तो निदान करने में कठिनाई नहीं होती। ये तीन मुख्य लक्षण हैं :

(१) जीवाणु की उपस्थिति त्वचा में अथवा नासा में।

(२) संज्ञाहीन विवर्णयुक्त चकत्तों की उपस्थिति, जिनकी पहचान पंख और पिन-परीक्षा से की जाती है।

(३) संबद्ध नाड़ियों में शोथ, जिससे नाड़ी मोटी और वेदनायुक्त हो जाती है।

फिर भी अनुभव के लिए दूसरे मिलते-जुलते रोगों की सूची सामने रखनी चाहिए।

सादृश्य रखनेवाले रोग

(१) न्यच्छ या लाञ्छन (Birth Mark) : यह बढ़ता नहीं है। इसमें शून्यता नहीं होती। यह जन्म से होता है।

(२) त्वचागत कालाजार (Dermal Leishmaniasis): कालाजार का पूर्ववृत्त पाया जाता है। कुष्ट-रोग के अन्य लक्षण नहीं मिलते। कालाजार के लिए रक्त-परीक्षा करने से उसके कीटाणु मिल जाते हैं। इसका स्थान चेहरे एवं कानों पर विशेष होता है।

(३) श्वेत कुष्ट (Leucoderma) : चकत्तों में रंग पूरा उड़ जाता है। कुष्ट के अन्य लक्षण नहीं मिलते।

(४) दौर्बल्यजन्य चकत्ते (Nutritional) : प्रायः बच्चों

के चेहरों पर 'कैल्शियम' की कमी के कारण कभी-कभी ये दाग दीखते हैं।

(५) घाव के दाग (Scars): चोट या जलने से भी दाग हो जाते हैं।

(६) सिध्म (Tinea Versicularis): ऊपरी सतह पर रखे एवं छितराये हुए दाग हो जाते हैं। खुजलाने पर भूसी उड़ती है।

(७) धोबी उपसर्ग और दद्रु (Ringworm): इसमें खाज आती है। दद्रु के चकत्ते गोल-गोल और कण्डुयुक्त होते हैं।

(८) फिरंग की त्वग्विकृति (Syphilides): जननेन्द्रिय में व्रण, रोग का इतिहास तथा अन्य लक्षण भी कुष्ठ-रोग से भिन्न होते हैं।

(९) याज (Yaws): इसमें भी रोग का पूर्व-इतिहास होता है, जो कुष्ठ-रोग से भिन्न होता है।

(१०) एक कुष्ठ (Psoriasis): ये चकत्ते मछली के समान चमकीले होते हैं। चमकीले शकलों (Scale) को निकालने से नीचे रक्त चमक उठता है। इनका स्थान अधिकतर खुले भागों में होता है। जैसे घुटने, केहुनी आदि। 'अस्वेदनम् महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्। तदेककुष्ठम्' (चरक)।

(११) खरचर्मता या किटिभ (Scleroderma): श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् (चरक)। इसमें त्वचा मोटी और खर हो जाती है।

(१२) त्वग्यक्ष्मा (Lupus Vulgaris): यह विकार चेहरे और छाती पर होता है। इसमें खाज आती है।

(१३) सबोरिया: यह सिर से प्रारम्भ होता है। यह पीलापन और लाली लिये रहता है।

(१४) डरमेटाइटिस : इसमें उपसर्ग का इतिहास, शोथ, जीवाणु, खाज वगैरह आती है।

इन सब रोगों में कुष्ठ-रोग के निम्नलिखित तीनों प्रमुख लक्षण नहीं मिलते : (१) कुष्ठ-जीवाणुओं की उपस्थिति, (२) त्वचा के ऊपर स्वाप और वैवर्ण्ययुक्त चकत्ते और (३) नाड़ी-शोथ और नाड़ी-पीड़ा। अतः इन्हें अलग करना आसान है। ...

रोग-क्रम और साध्यासाध्यता : १३ :

'कुष्ठं दीर्घरोगाणाम्'—चरक

कुष्ठ-रोग चिरकालानुवंधी रोग है। यह मारक नहीं है, बल्कि इसकी भयंकरता लंबे अर्से तक जीवित रहकर मनुष्य को भोगनी पड़ती है। इसके कारण विशेप शारीरिक कष्ट भी नहीं होते। बढ़ जाने पर नाड़ी-पीड़ा वगैरह होती है। अन्यथा अधिकतर तो संज्ञाशून्यता और शीतोष्ण का ज्ञान न होने से सर्वसाधारण पीड़ा भी जाती रहती है। भारी चेहरा, उसकी मोटी भौंहों पर कंगूरे जैसे चिह्न, लटके हुए होठ और मोटे कान, विकृत और अधखुली आँखें, विशिष्ट वन्दर-पंजा और व्रणयुक्त पैर—प्राय: कुष्ठ-रोगी का ऐसा भयानक स्वरूप हो जाता है। आगे जाकर नाक का वैठ जाना, आवाज का विकृत हो जाना, नेत्र-ज्योति का नष्ट हो जाना आदि भयानक गम्भीर परिणाम भी प्रकट होते हैं। जव कोई डाक्टर जाँचकर 'कुष्ठ-रोग' घोषित करता है, तो यही भयानक चित्र मनुष्य की आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। समाज में कुष्ठ-रोगी के प्रति घृणा, दुराव और अपमान की भावना देखने को मिलती है, जिससे उसे अत्यंत मानसिक क्लेश होता है। इष्ट-मित्र और प्रियजन उसका वहिष्कार ही कर देते हैं। इन सवके कारण मनुष्य अपना मानसिक संतुलन खो वैठता है। उसे इसका भान ही नहीं रह जाता कि कुष्ठ-रोग 'सौम्य' और स्वयं उपचार से ठीक भी हो सकता है।

साध्यासाध्यता के निर्णायक तत्त्व

यों तो हर रोग में साध्यासाध्यता का महत्त्वपूर्ण स्थान हुआ

करता है, लेकिन कुष्ठ-रोग में इसका महत्त्व अत्यधिक है। इस-लिए रोग-क्रम की सारी परिस्थितियों को ठीक तरह समझकर इसका सही विचार होना चाहिए। इसकी साध्यासाध्यता के निर्णय के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :

(१) कुष्ठ-रोग का प्रकार, (२) कुष्ठ-रोग का प्रसार और प्रगति, (३) रोगी का स्वास्थ्य, (४) उपचार की व्यवस्था, (५) सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था और (६) प्रत्यक्ष सेवा-शुश्रूषा।

रोग के प्रकार : सौम्य प्रकार का कुष्ठ-रोग जल्दी ठीक होता है। विशेषकर 'ट्युबर-क्लाइड' प्रकार के रोग में प्रतिकारक्षमता अच्छी होती है। इसलिए वह जल्दी ठीक हो जाता है। तीव्र-कुष्ठी चाहे प्रारम्भिक अवस्था में ही हो, फिर भी ठीक होने में अधिक समय लेता है। सल्फोन के कारण बाह्य लक्षण यथाशीघ्र मिट जाते हैं। सौम्य-कुष्ठ की विकृतियाँ या तो देर से ठीक होती हैं या आजन्म अपना निशान छोड़ जाती हैं।

रोग का प्रसार और अवस्था : सौम्य प्रकार के प्रारम्भिक चकत्ते, 'हिडनो-कार्पस आईल' की 'इंट्राडर्मल' सूई लेने पर जल्दी मिट जाते हैं। तीव्र-कुष्ठ में भी प्रारम्भिक अवस्था में उपचार का लाभ जल्दी होता है। अतः यह तो स्पष्ट है कि जितनी जल्दी उपचार प्रारम्भ किया जाय, उतनी ही जल्दी रोग ठीक होगा और अन्य उपद्रवों से भी रक्षा होगी।

रोगी का स्वास्थ्य और मानस : रोगी यदि युवा और पुष्ट हो, तो जल्दी ठीक हो जाता है। फिर भी नैसर्गिक क्षमता का महत्त्व अधिक है। रोगी यदि उपचार में अपना मानसिक सह-योग देता है, प्रसन्न और आशावादी रहता है, तो उसका

असर स्वस्थ होने पर निश्चित होता है। उसका सहकार और श्रद्धा रहने पर ही उपचार ठीक और नियमित रूप से चल सकता है।

उपचार की व्यवस्था : रोगी का उपचार और उसकी सेवा-सुश्रूषा की व्यवस्था पर साध्यासाध्यता निर्भर करती है। सर्वसाधारण डाक्टर कुष्ठ-रोग की ओर ध्यान नहीं देते। इससे रोगी के मन में गलत धारणाएँ वन जाती हैं। सहानुभूतिपूर्वक अनुभवी डाक्टरों की देख-रेख में उपचार की व्यवस्था की वहुत कमी है। उचित भोजन की कमी भी रोग से मुक्त होने में देरी का कारण वनती है।

संसर्ग का इतिहास, सान्निध्य एवं उसकी अवधि का भी प्रभाव रोग की तीव्रता अथवा सौम्यता को वताने में मदद करता है। लेप्रोमिन परीक्षा का उपयोग भी इसी दृष्टि से करते हैं। अन्ततः रोगी प्रायः ठीक हो जाता है, लेकिन अपंगता आदि के चिह्न नहीं मिटते। इसकी अवधि सौम्य प्रकार में कुछ महीनों से लेकर २ वर्ष तक की समझनी चाहिए। तीव्र-कुष्ठ में अधिक-से-अधिक ५ वर्ष तक लग सकते हैं। उपद्रवों से कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। ज्यादातर इन रोगियों में राजयक्ष्मा का उपसर्ग हो जाया करता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से साध्यासाधता : आयुर्वेद में इसकी साध्यासाध्यता का विचार इस प्रकार किया गया है :

यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेपु तरुणेपु वा।
भेपजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते॥

—(चरक)

अर्थात् जो रोग से पीड़ित होने के पूर्व या रोग होते ही जल्दी चिकित्सा करता है, वह प्रायः स्वास्थ्य-लाभ करता है।

कुष्ठमात्मवतः साध्यं त्वग्रक्तपिशिताश्रितम् ।
मेदोगतं भवेद्याप्यं असाध्यमत उत्तरम् ॥
आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम् ।
औषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात् ।
यस्तेन मुच्यते जन्तुः स पुण्यां गतिमाप्नुयात् ॥
नीचरोमनखोऽश्रान्तो हिताश्यौषधतत्परः ।
योषिन्मांससुरावर्जी कुष्टी कुष्ठमपोहति ॥

—(सुश्रुत)

उस व्यक्ति का कुष्ठ-रोग साध्य है, जिसका आत्मबल बना हुआ है। त्वचा, रक्त और मांस में आश्रित कुष्ठ-रोग साध्य है। यदि वह मेदा तक पहुँच जाय, तो कष्ट-साध्य हो जाता है। इसके बाद की धातुओं में आश्रित कुष्ठ प्रायः असाध्य ही होता है। जो कुष्ठी विधिवत् आहार और आचार किया करता है, विशिष्ट औषधियों का सेवन करता और तपस्या भी करता है, वह इस रोग से मुक्त हो जाता है। रोम और नख विकृत हो जाने पर भी जो कुष्ठी थका या निर्बल नहीं रहता, सदा औषध-सेवन करता है तथा स्त्री, मांस एवं मद्य का सेवन नहीं करता, वह कुष्ठ-रोग से छूट जाता है। ...

कुष्ठार्बुदीय प्रतिक्रिया, कुष्ठ-भय, जाँच-वही :१४:

कुष्ठार्बुदीय प्रतिक्रिया (Lepromin Test) के लिए कुष्ठार्बुद का विशोधित घोल काम में लाया जाता है। इसकी १ या २ सी० सी० मात्रा वाँह या जाँघ की त्वचा में दी जाती है। यदि प्रतिक्रिया व्यक्त हो, तो सूई के स्थान में लाल उभार उठ आता है। यह उभार ८ दिन से लेकर ४ सप्ताह तक बढ़ता है। पुनः ६ सप्ताह में मिट जाता है।

प्रतिक्रिया निम्नलिखित प्रकार से बतलायी जाती है :

(१) प्रतिक्रिया का अभाव	(१) कोई लक्षण प्रकट नहीं होता।
(२) संदिग्ध प्रतिक्रिया	(२) किंचित् लाली और हाथ से छूने पर छोड़ा-सा उभार मालूम होता है।
(३) ईषद्व्यक्त प्रतिक्रिया	(३) लाली और उभार स्पष्ट, गाँठ-मोटाई २-४ मि. मि.।
(४) मितव्यक्त प्रतिक्रिया	(४) लाली और उभार स्पष्ट, गाँठ-मोटाई ४-८ मि. मि.।
(५) प्रव्यक्त प्रतिक्रिया	(५) लाली और उभार स्पष्ट, गाँठ की मोटाई ८-१० मि. मि.।
(६) अतिव्यक्त प्रतिक्रिया	(६) १० मि. मि. से अधिक। घाव वन जाता है।

प्रतिक्रिया का अर्थ और उपयोग : कुष्ठार्बुदीय में जीवाणु होते हैं। जब इसकी सूई लगायी जाती है, तब सहज या अर्जित प्रतिकारकतायुक्त शरीर में प्रविष्ट कुष्ठाणुओं की रोकथाम करने के लिए प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, जिसमें सूई के स्थान पर रक्ताधिक्य और भक्षकाणुओं की भरमार हो जाती है। फलस्वरूप लाली, गाँठ आदि स्थानिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह प्रतिक्रिया अर्जित प्रकार में अधिक होती है। जब शरीर अप्रतिकारक होता है, तब सूई से प्रविष्ट किये गये स्थानिक लक्षण नहीं होते। कुष्ठार्बुदीय प्रतिक्रिया का मिलना सहज या अर्जित प्रतिकारता का और न मिलना अप्रतिकारता का सूचक होता है।

कुष्ठार्बुदीय प्रतिक्रिया का उपयोग निम्नलिखित प्रकारों से होता है :

(१) कुष्ठ के लिए शरीर की सहज प्रतिकार-शक्ति जानने के लिए।

(२) कुष्ठ के लिए शरीर की सहज ग्रहणशीलता जानने के लिए।

(३) कुष्ठी के सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों में कुष्ठ उत्पन्न होने की सम्भावना मालूम करने के लिए।

(४) कुष्ठ प्रभेद जानने के लिए।

(५) चिकित्सा का परिणाम जानने के लिए।

(६) साध्यासाध्यता का ज्ञान करने के लिए।

(७) कुष्ठ-रोग का नियंत्रण और निर्मूलन या प्रसार की गतिविधि जानने के लिए।

अव्यक्त प्रतिक्रिया : (१) प्रायः १ वर्ष के बच्चों में यह प्रतिक्रिया अव्यक्त रहती है। (२) कुष्ठ के संपर्कवालों में भी

अधिकतर अव्यक्त प्रतिक्रिया रहती है और (३) तीव्र-कुष्ट में भी प्रतिक्रिया अव्यक्त रहती है।

कुष्ठ-रोग का भय

हजामत वनाने से 'सवोरिया', टिनियाफ्लैवा' पैदा होते हैं, जो अक्सर कुष्ठ-रोग का भय उत्पन्न करते हैं। दूसरा भय अन्तर्वाहुका नाड़ी का रहता है। चोट लगने के कारण नाड़ी-शोथ हो सकता है, इसलिए लोग वरावर उसीको देखा करते और दूसरी तरफ की नाड़ी से मिलाते रहते हैं। घड़ी के धातुमय पट्टे से और हड्डी के वीच नाड़ी आ जाने से भी नाड़ी-शोथ हो जाता है। प्रारंभिक डाक्टरों और विद्यार्थियों को इस प्रकार का डर अक्सर सताया करता है। कुष्ठ की भयानकता पर भाषण सुनकर अक्सर प्रत्येक विद्यार्थी अपनी जाँच कराने के लिए दौड़ता है। कुष्ठ-रोग का भय वड़ा भयानक होता है। इसलिए यह रोग जाहिर करने-से पहले डाक्टर को पूरी जाँच कर लेनी चाहिए। शंका करने वालों से विश्वासपूर्वक पूरे विस्तार से जाँच एवं वातें कर लेनी चाहिए।

जाँच-वही तैयार करना

कुष्ठ-रोगियों का निरीक्षण और जाँच-वही तैयार करना निदान से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे साध्यासाध्यता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कुष्ठ-रोग का नियन्त्रण और उपचार में मदद मिलती है।

रोगी का निरीक्षण : शरीर का चार्ट तैयार करना जाँच-वही तैयार करने का सवसे सरल साधन है। इसलिए इसे जरूर करना चाहिए। उसके लिए निम्नलिखित संकेत दिये जाते हैं :

(१) संज्ञाशून्यता (Anaesthesia) के लिए खड़ी लकीरें खींची जाती हैं : ||||||||||||
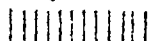
(२) वैवर्ण्ययुक्त चकत्ते (Depigmentation) के लिए समानान्तर रेखाएँ दिखायी जाती हैं :

(३) अन्तर्भरणयुक्त चकत्ते (Diffused) बिन्दुओं से दिखाये जाते हैं :
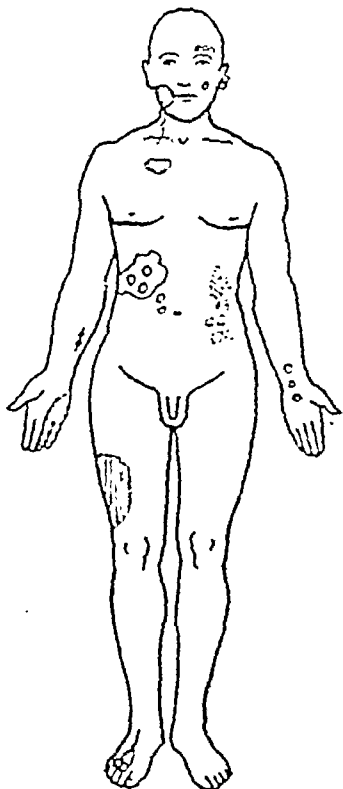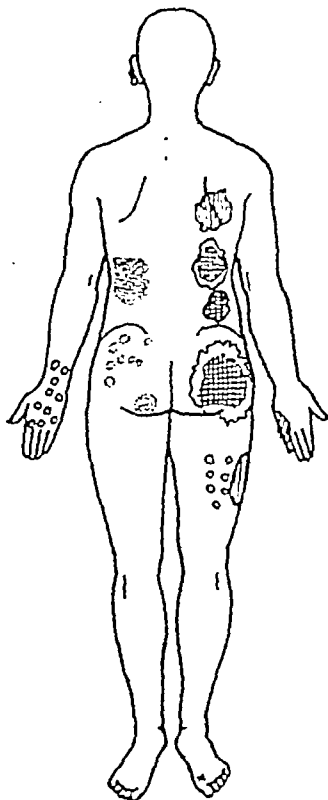
(४) ग्रन्थियाँ (Nodules) शून्य के चिह्न से अंकित की जाती हैं : °°°°

(५) घाव का चिह्न X यह है।

(६) टेढ़ी अंगुलियों के लिए SSS यह चिह्न प्रयोग में लाते हैं।

(७) नाड़ी-शोथ के लिए यथा स्थान मोटी लकीर खींचते हैं। जैसे : SS

साथ के चित्र में उपर्युक्त चिह्न अंकित किये गये हैं।

कुष्ठ-रोगी की अवस्था, लिंग, सामाजिक स्तर, कौटुम्बिक जीवन, शारीरिक स्वास्थ, रोग की कालावधि, रोग के प्रथम चिह्न, संपर्क का पूर्व-इतिहास, कुष्ठ-रोग का पारिवारिक इतिहास आदि बातों की जानकारी भी कुष्ठ-रोगी की जाँच-बही में लिखनी चाहिए।

पिछले दिनों तक कुष्ट-रोग 'असाध्य' समझा जाता रहा है। जो भी थोड़ा बहुत उपचार किया जाता था, वह केवल मानसिक संतुष्टि और शरीर की शक्ति बनाये रखने के लिए किया जाता था। लेकिन आज वैसी परिस्थिति नहीं है। आज यह रोग उपचार-साध्य है। इसके उपचार में दो पहलुओं पर ध्यान देना पड़ता है, जो निम्नलिखित हैं: (१) सामान्य चिकित्सा और (२) विशिष्ट चिकित्सा। पहले में वे सब उपाय सम्मिलित हैं, जिनसे शरीर की शक्ति और प्रतिकारक्षमता बढ़ती है। दूसरे में विशिष्ट औषधियों का उपयोग किया जाता है। 'सल्फोन' और 'हिडनोकार्पस आईल' इसकी विशिष्ट औषधि हैं। इसीमें उपद्रवों का उपचार, कुष्ठ-प्रतिक्रिया की चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा और अपंगता की व्यवस्था आदि आ जाते हैं।

सामान्य चिकित्सा

इसमें रोगी का स्वास्थ्य सुधारा जाता और उसकी प्रतिकार-क्षमता बढ़ायी जाती है। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है।

(१) स्वच्छता : स्वच्छता देवत्व की साधना है। स्वास्थ्य के लिए स्वच्छता का महत्त्व अत्यधिक है। मन पर भी स्वच्छता का असर पड़ता है। स्वच्छ आहार, स्वच्छ विहार, स्वच्छ रहन-सहन, स्वास्थ्य के लिए बुनियादी चीजें हैं। रोज नियमित मुख-मार्जन, स्नान, कपड़े धो डालना और रहने का स्थान साफ करना चाहिए। निवास-स्थान के पास कूड़ा-कर्कट और कीचड़-पानी के

गड्ढे न रहें। नाखूनों, ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों आदि की सफाई भी स्वस्थ-जीवन के लिए जरूरी है।

(२) व्यायाम : कुष्ठ-रोगी को खुले वदन, खुली हवा और सूर्य-प्रकाश में नित्य शरीर-श्रम करना चाहिए। व्यायाम ऐसा हो, जो वोझ न वने और जिससे थकान भी अधिक न आये। तरकारी लगाना, वगीचे में काम करना, पेड़ों को पानी देना, खुरपी से घास छीलना, जमीन तोड़ना आदि काम वहुत अच्छे हैं। इनसे साधारण स्वास्थ्य ठीक रहने के अलावा अंगुलियों में अपंगता न आयेगी और टेढ़ी अंगुलियों में सुधार भी होगा। समाज के लिए उपयोगी, उत्पादक श्रम करने से मनुष्य का नैतिक उत्थान होता है। धंधों के द्वारा इलाज (Occupational Therapy) में रचनात्मक और उपयोगी काम दिये जाते हैं।

(३) आहार : कुष्ठ-रोगी प्रायः गरीव और दुर्वल होते हैं। पेटभर भोजन भी उन्हें नसीव नहीं होता। ऐसी हालत में संतुलित आहार का महत्त्व उन्हें क्या मालूम और उसका प्रतिपादन करने से लाभ भी क्या है? जव तक देश में गरीवी और वेकारी है, तव तक आहार की समस्या हल नहीं हो सकती। सिद्धान्ततः यह निर्विवाद है कि शरीर के लिए अच्छे भोजन की सवसे पहली आवश्यकता है। विशेषतः रोगियों को तो और भी अच्छा भोजन चाहिए। खाद्य द्रव्यों में गेहूँ, चना, सव्जी, दूध, घी, जिनमें विटामिन 'वी' अधिक हो, ऐसे पदार्थ लाभकर होते हैं। जो चावल खाने के अभ्यस्त हैं, उन्हें भी एक समय गेहूँ और चने की रोटी खानी चाहिए। मांस, मछली, मद्य, धूम्रपान, वर्ज्य कर देने चाहिए। दूध और शाकाहारी भोजन लेना चाहिए। मिर्च, मसाले आदि रक्त दूषित करनेवाले पदार्थ छोड़ देने चाहिए। अति भोजन, अनियमित भोजन, अपक्व भोजन आदि से हानि होती है।

(४) स्वतंत्र जीवन और मानसिक स्वास्थ्य : कुष्ट-रोग संसर्ग से फैलता है। इसलिए रोगी का निवास स्वतंत्र होना चाहिए। नहाने-धोने की व्यवस्था अलग होनी चाहिए। समाज में कुष्ठरोगी के प्रति घृणा रहती है, उसके कारण वह दीन-हीन, खिन्न और लज्जास्पद भावनाओं से ग्रस्त रहता है। वह अपने आपको व्यर्थ समझकर तुच्छ और हीन बन जाता है। इसका परिणाम उसके स्वास्थ्य पर बुरा होता है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि रोगी प्रसन्न, निश्चिंत और आशावान् बने।

आयुर्वेद में रोगी का मनोबल बढ़ाने पर बहुत जोर दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि सत्त्ववान् (सत्त्वसार), आत्मवान्, जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, श्रद्धावान्, ज्ञापक (Intelli-gent), जीने की इच्छा रखनेवाला, रोगी उपचार-साध्य है। 'चरक' (विमानस्थान) में 'सत्त्वसार' का यह लक्षण कहा गया है :

> 'महोत्साहाः, दक्षाः, धीराः, समरविक्रान्ताः योधिनः,
> त्यक्तविषादाः—सत्त्वसाराः।'
> 'पंचकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्।
> योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्॥
> दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य ।'
>
> —(सुश्रुत)

(५) पुरोवर्ति और सहवर्ति रोगों की चिकित्सा : अंकुश—कृमि, केचुए, अतिसार, विषमज्वर, कालाजार, दंतरोग, गले के विकार आदि रोग होने पर उनका समुचित उपचार करना चाहिए। फिरंग चिकित्सा-साध्य हो सकता है। क्षय भी उपचार-साध्य है।

कुष्ठ-रोग में प्रतिकार-शक्ति और साधारण स्वास्थ्य का जो

संबंध है, उसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कुष्ठ-रोग का प्रसार कौन-सा तत्त्व रोक सकता है, यह कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ अज्ञात तत्त्व शरीर में उत्पन्न होते हैं, जो रोग को सीमित करते और अन्त में उसके उन्मूलन में मदद करते हैं। उन अज्ञात तत्त्वों को पैदा करने या बढ़ाने और ठीक समय पर शक्तिशाली बनाने का काम ही साधारण उपचार का होता है। इससे उपसर्ग की तीव्रता कम होती है और आगे जाकर रोग शांत करने में शरीर की प्रतिकार-शक्ति सफल होती है। दुर्भाग्य से हम लोग अभी भी उस तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। इसलिए अन्य तरीके काम में लाते हैं कि शायद उनसे उपसर्ग को रोकने में मदद मिले।

विशिष्ट चिकित्सा

'विशिष्ट चिकित्सा' का अर्थ है, अर्थात् औषधियों द्वारा उपचार। कुष्ठ-रोग में सामान्य उपचार विशेष उपचार की बुनियाद मानी जाती है। विशेष उपचार लम्बा हो सकता है और उसका असर सामान्य स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। इसलिए जितना अच्छा सामान्य स्वास्थ्य बनाये रख सकें, उतनी ही तेजी से औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

तुवरक तेल : (Hydnocarpus Oil) तुवरक तेल का प्रयोग कुष्ठ-रोग में अति प्राचीन काल से किया जाता आ रहा है। आयुर्वेद में तुवरक तेल का वर्णन काफ़ी विस्तार से आया है :

वृक्षास्तुवरका ये तु पश्चिमार्णवभूमिषु।
वीचीतरंगविक्षेपमारुतोद्भूतपल्लवाः ॥
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे।
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च ॥

तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत् ।
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात् ॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ।
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम् ॥
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ।
रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत् ॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम् ।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम् ।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः ॥

—(सुश्रुत)

तुवरक, 'हिडनोकार्पस' और 'चालमोगरा' नाम से भी प्रसिद्ध है। हिडनोकार्पस का वृक्ष दो प्रकार का होता है। (१) हिडनो-'कार्पस विशिआना', यह दक्षिण-पश्चिम हिन्दुस्तान में अधिक पैदा होता है। (२) 'हिडनोकार्पस एन्थलमेण्टिका'। यह स्याम और हिन्द-चीन में पैदा होता है। इसके ताजे, पूरे पके हुए फलों के बीजों से तेल निकाला जाता है। बीज या तेल पुराना हो जाने पर बिगड़ जाता है। वह प्रदाहक भी हो जाता है। दक्षिण-पश्चिम भारत के बीजों का तेल उत्तम होता है। अर्नाकुलम् में इसके बीजों को पेरकर बड़ी मात्रा में तेल तैयार किया जाता है।

आजकल इसे मुँह से देने का तरीका छोड़ दिया गया है। इसकी मालिश कराते हैं और अन्तर्भरणसूचिका (I.D.) द्वारा चकत्तों पर दिया जाता है।

तुवरक के योग और सेवन-प्रकार

(१) फल-बीज : इनका उपयोग अब प्रायः नहीं होता। पहले यह सबसे सरल-सुलभ पद्धति थी। रोगी वैद्य की सलाह

से स्वयं ही इसका सेवन करते थे। इसका चूर्ण ८–१५ रत्ती ¼ रत्ती भाँग के साथ भोजन के उपरान्त दिन में दो वार दिया जाता था।

(२) तेल : इसके तेल का प्रयोग निम्नलिखित पद्धतियों द्वारा किया जाता है :

(अ) मर्दन : शरीर की मालिश विशेपकर विकृत अंगों में करायी जाती है। यह तेल शरीर में २-३ घंटे रहना चाहिए। मालिश करके थोड़ी देर सूर्य-प्रकाश में वैठना चाहिए। अन्त में सावुन लगाकर गुनगुने पानी से स्नान कर लेना चाहिए।

(आ) पान : इसके पीने से जठराग्नि कुपित होता है। जी मिचलाना, वमन, अरुचि आदि होते हैं। इसलिए यह वहुत कम मात्रा में दिया जाता था। दूध के साथ १-२ वूंद देते थे। केप्सूल में देना ज्यादा सुरक्षित रहता है। आजकल इसको छोड़ दिया गया है।

(ई) सूचिकाभरण : यही मार्ग आजकल प्रयोग में लाया जाता है। तेल में ४ प्रतिशत 'क्रियोजोट' मिलाते हैं। इसे गर्म कर और पुनः ठंडा करके देते हैं।

यह मांसपेशी (Intra Muscular) में १ सी. सी. से ५ सी. सी. तक सप्ताह में दो वार दिया जाता था। लेकिन इसमें फोड़ा होने का भय वरावर वना रहता है। त्वचा (Subcutanious) में ठीक तरह देने से फोड़े कम होते हैं। मात्रा वही रहती है।

यह चर्मान्तर्य-पद्धति (Intra-deimal) से चकत्तों पर सूई द्वारा दिया जाता है। इसे १ सी. सी. में १५-२० जगह देना चाहिए। सूई को २-३ मि० मि० त्वचा में घुसाकर तेल प्रविष्ट करते हैं। चने की दाल की वरावर चकत्ता उठना चाहिए। सूई का

आधार ओखली या 'साकिट' तक अन्दर घुसाते हैं। उस स्थान पर एक मास के बाद पुनः यह तेल देना चाहिए। नाड़ी-मार्ग के आस-पास नाड़ी-शोथ होने पर और टेढ़ी अंगुलियों के बीच की मांस-पेशियों में सुई द्वारा देने से भी लाभ होता है।

तेल के लवण और प्रलवण : तुवरक तेल के सोडियम क्षारातु और दक्षुल प्रलवण (Ethyl Easters) होते हैं। इनके निम्न-लिखित योग महत्त्वपूर्ण हैं :

(क) एन्टीलेप्रोल : यह दक्षुल प्रलवण है। इसका प्रयोग मुँह से करते हैं। इसे १ ग्राम से ५ ग्राम तक देते हैं।

(ख) एलेपोल : यह स्नेहीय अम्लों का क्षारातु लवण (Sodium Hydnocarpate) है। इसे सुई द्वारा २ सी० सी० से ५ सी० सी० तक सप्ताह में दो बार त्वचा में दिया जाता है।

(ग) मूग्रोल : यह प्रलवण है। इसका प्रयोग दोनों तरह से किया जाता है—मुँह या सुई द्वारा दिया जाता है।

(घ) ई. सी. सी० ओ. : इसके निर्माण का फार्मुला यह है :

ईथिल ईस्टर	१″
कपूर	१″
क्रियोजोट	१″
जैतून का तेल	१॥″

(ङ) आइडीन के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रलवणों के गुण-दोष : तेल की अपेक्षा प्रलवण अधिक पतले होते हैं। इन्हें सुई से देने में आसानी होती है। लेकिन ये अधिक स्थिर नहीं होते, हवा लगने से जल्दी खराब हो जाते हैं। इसीलिए 'एम्पुल्स' में रखे जाते हैं। मँहगे होने से बड़ी संख्या में इनका प्रयोग करना कठिन होता है। इन्हें गर्म नहीं किया जाता।

तुवरक तेल के गुण-धर्म और उसकी प्रतिक्रिया : यह तेल रंग में किंचित् पीला, उग्र-गन्ध और स्वाद में तीक्ष्ण होता है। कुष्ठ-जीवाणुओं पर इसका क्या असर होता है और कुष्ठ-रोग में यह किस तरह काम करता है, कहना कठिन है। कुष्ठ-वेत्ताओं का मत है कि तुवरक तेल निम्नलिखित तरीकों से काम करता है :

(क) मैकेनिकल : इस तेल में उच्च श्रेणी के असंतृप्त स्नेहाम्ल बहुत होते हैं। ये रक्त में पहुँचकर पैत्तव (Cholesterol) में परिवर्तित होते हैं, जिससे कुष्ठ-जीवाणुओं से धातुओं की रक्षा होती है।

(ख) ये पैत्तव सूर्य की किरणों से विटामिन डी० में परिवर्तित होते हैं, जिससे धातु पुष्ट होती है।

(ग) तुवरक तेल में धातु-विदारक गुण भी है, जिससे वह कुष्ट-कोशाओं को तोड़ता है। फलतः कुष्ट-जीवाणु स्वतंत्र होते हैं। कुष्ट-कोशा और उसके अन्दर के चिपचिपे पदार्थ को भी तेल नष्ट करता है। यह तेल कुष्टार्बुदांशिक (Lepromalytic) है।

(घ) तुवरक से विभेदाभ (Lipoid) भी बनते हैं, जो कुष्ट-जीवाणु के ऊपरी स्नेहीय वेष्टन को नष्ट करते हैं।

(ङ) इस प्रकार धीरे-धीरे स्वतन्त्र होनेवाले कुष्टाणु के खिलाफ शरीर में प्रतिजन (Antigen) पैदा होते हैं, जिससे प्रतियोगी द्रव्यों की उत्पत्ति होकर शरीर कुष्टक्षम बनता है। स्वतंत्र कुष्ठाणु प्रतियोगी द्रव्यों तथा भक्षकायाणुओं द्वारा नष्ट किये जाते हैं।

गुण-दोष : तुवरक तेल स्वयं जीवाणुनाशक नहीं है। वह जीवाणुओं के गढ़ को और रक्षक स्तरों को तोड़कर उन्हें भक्ष्य बनाता है। दूसरी ओर शरीर में उनके खिलाफ प्रतिकार-शक्ति

उत्पन्न करके उनका नाश करता है। कुष्ट का उपसर्ग टालने के लिए प्रतिबंधक रूप में इसका उपयोग नहीं होता। रोगी सबल या प्रतिकारक होने पर ही इसका उपयोग होता है। दुर्बल मनुष्य में उपद्रव बढ़ने का ही अधिक भय रहता है। इसका सेवन दीर्घ-काल तक करना पड़ता है। इससे रोग का निर्मूलन नहीं होता। आज तक १५ प्रतिशत तुवरक तेल और ८५ प्रतिशत सामान्य स्वास्थ्य के नियमों का प्रयोग यही कुष्ट की औषधि मानी जाती रही है। अब सल्फोन के निकल आने से परिस्थिति बदल गयी है।

सल्फोन का उपचार

तुवरक तेल की उपयोगिता सौम्य प्रकार के रोगियों में होती है। लेकिन आज यह कहना ज्यादा उपयुक्त है कि कुष्ट-रोग का सर्वोत्तम इलाज सल्फोन का उपचार ही है।

सल्फोन की रचना और इतिहास : यह औषधि 'डाइमिनो डाइफनिल सल्फोन' से तैयार की गयी है। पहले इसका उपयोग राजयक्ष्मा के जीवाणु मारने में किया जाता था। १९४४ में पहली बार कुष्ट-रोग पर इसका प्रयोग किया गया, जो राजयक्ष्मा से ज्यादा लाभकर सिद्ध हुआ।

सल्फोन के योग : (क) 'प्रोमीन'। यह रक्तवाहिनी द्वारा ४ ग्राम तक प्रतिदिन दी जाती थी। मुँह से देना अधिक विषैला समझा गया।

(ख) 'डाइजोन' : मुँह से दो ग्राम तक सहन हो जाता है।

(ग) प्रोमिजोल : छह ग्राम तक मुँह से दे सकते हैं।

(घ) सल्फेट्रोन : तीन ग्राम तक प्रतिदिन दे सकते हैं।

(ङ) डी० डी० एस० : ये बुनियादी योग हैं। इसे मुँह द्वारा

सौ से तीन सौ मिलिग्राम प्रतिदिन दिया जाता है। इसके दो योग हैं : पहला 'एल्लोसल्फोन' और दूसरा 'नोवोफोन'।

(च) हिडनो सल्फोन : १५० से २०० मिलिग्राम प्रतिदिन देते हैं।

रोगी का प्रकार : सब प्रकार में इसका प्रयोग लाभकारी सिद्ध हुआ है। विशेषतः तीव्र-कुष्ठ में इसके परिणाम बहुत जल्दी और स्पष्ट देखे गये हैं। सौम्य प्रकार में भी इसका असर स्पष्ट और निश्चित होता है।

सल्फोन के विषैले परिणाम : चूँकि यह औषधि विषैली है, इसलिए इसका परिणाम शरीर के अन्य भागों पर विषैला होता है।

इससे लाल रक्त-कणों का नाश होता है, जिसके कारण रक्ताल्पता और लाल रक्त-कण की कमी हो जाती है। श्वेत-कणों की संख्या का बढ़ जाना (लिकोपिनिया), अलर्जिक डर्मेटाइटिस, राइनाइटिस, सिरदर्द, जी मिचलाना आदि उपद्रव पैदा होने का डर रहता है। कभी-कभी सल्फोन से कुष्ठ-प्रतिक्रिया भी हो जाती है। लेकिन देखा यह गया है कि नियंत्रित मात्रा में सेवन करने से ये सब उपद्रव टाले जा सकते हैं।

सल्फोन देते समय रक्त-परीक्षा, हिमोग्लोबिन की जाँच एवं अन्य लाक्षणिक जाँच करते रहना चाहिए। लौह की कमी से रक्ताल्पता होती है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया की ओर भी सावधानी बरतनी चाहिए। जिन रोगियों का सामान्य स्वास्थ्य गिरा है, उनमें ये उपद्रव अधिक होते हैं। अधिक बढ़े हुए तीव्र-कुष्ठ के रोगियों में भी ये ज्यादा होते हैं। आरंभ में भी कमजोरी मालूम हो सकती है। यदि रक्ताल्पता हो, तो लौह का प्रयोग करना चाहिए।

सल्फोन की मात्रा : सबसे अच्छा नियम यही है कि

सल्फोन का प्रारंभ अत्यन्त छोटी मात्रा से करना चाहिए और शरीर-शक्ति तथा प्रतिक्रिया के अनुसार मात्रा क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिए। रोग की अवस्था, रोगी का स्वास्थ्य और रक्त की दशा देखकर ही मात्रा का निश्चय करना चाहिए। ७० से नीचे हिमोग्लोबिन हो, तो लोह और 'लीवर एक्स्ट्रेक्ट' देना चाहिए। सल्फोन के साथ 'हिडनोकार्पस' उपचार भी देने का रिवाज है। सल्फोन-उपचार की प्रचलित पद्धति नीचे विस्तार के साथ दी जा रही है।

'सल्फोन' देने की पद्धति

डी० डी० एस० या सल्फोन के दो मुख्य योग आज उपलब्ध हैं। पहला 'एव्लो सल्फोन' (आई० सी० आई०) के नाम से मिलता है। इसकी गोलियाँ १०० मिलिग्राम की मिलती हैं। दूसरा योग 'बंगाल केमिकल' का है, जिसका नाम 'नोवोफोन' रखा गया है। इसमें १०, ५० और १०० मिलिग्राम की गोलियां मिलती हैं। इस कंपनी ने 'इंजेक्ट' के साथ भी 'नोवोफोन' तैयार किया है। दोनों ही योग ठीक काम करते हैं। सल्फोन के उपचार में लाक्षणिक सुधार जल्दी और तीव्र गति से होता है। जीवाणुओं पर असर धीरे-धीरे होता है।

सल्फोन किस प्रकार के रोगियों को दिया जाय : यों तो इसे सभी प्रकार के कुष्ट-रोगियों में दे सकते हैं। फिर भी रोगियों के अनुसार उसके प्रभाव का क्रम निम्नलिखित है : (१) तीव्र-कुष्ट (२) सौम्य प्रकारवाले जीवाणुयुक्त कुष्ट, (३) सौम्य प्रकारवाले 'टुबरक्लाअड' कुष्ट और (४) सौम्य प्रकारवाले सर्वसाधारण रोगी।

डी० डी० एस० की मात्रा : इसे प्रतिदिन २५ मिलिग्राम से

प्रारम्भ करें और सप्ताह में एक दिन छुट्टी रखें। क्रमशः १०० मि० तक ले जायँ। इसके प्रयोग के निम्नलिखित तीन तरीके हैं :

(१) प्रथम सप्ताह २५ मिलिग्राम		सप्ताह में १ दिन छुट्टी। अधिकतम मात्रा २०० मिलिग्राम दैनिक।
दूसरा सप्ताह २५ ,,		
तीसरा सप्ताह ५० ,,		
चौथा सप्ताह ५० ,,		
एक मास पश्चात् १०० मिलिग्राम		
(२) प्रथम सप्ताह १०० मिलिग्राम	सप्ताह में २ बार	अधिकतम मात्रा ४०० मिलिग्राम। सप्ताह में दो बार।
दूसरा ,, १०० ,,	,,	
तीसरा ,, २०० ,,	,,	
चौथा ,, २०० ,,	,,	
एक मास के बाद ३०० ,,	,,	

(३) ३००–६०० मिलिग्राम सप्ताह में एक बार।

पहला तरीका सबसे सुरक्षित है। आम व्यवहार में उसीको लाना चाहिए। बच्चों के लिए मात्रा निर्धारित करते समय उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए। मुँह से ही मात्रा देना ज्यादा सरल, कम खर्चीला और प्रभावकारी होता है। आज डी० डी० एस० का उपयोग बड़े पैमाने पर कर सकते हैं। इंजेक्शन के रूप में भी यह उपलब्ध है। तेल में घोल बनाकर या जलीय घोल भी तैयार कर लिया जाता है।

शरीर में सल्फोन कैसे काम करता है : अनुमान है कि इससे जीवाणुओं का अवरोध होता है। यह जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है। उनकी शक्ति धीरे-धीरे इतनी क्षीण हो जाती है कि शरीरक्षमता उन्हें नष्ट करने में सफल हो जाती है। अभी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि

सल्फोन में जीवाणुओं को सीधे मारने की शक्ति है या नहीं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि आज तक जितनी दवाइयाँ निकलीं, उन सबमें इसका असर अत्यधिक देखा गया है।

सल्फोन का प्रभाव : सल्फोन से घाव अच्छे हो जाते हैं, नाक साफ होती है, आँखों की विकृति सुधरती है और नेत्र की ज्योति का बिगड़ना भी रुक जाता है। कभी-कभी इसका असर कुछ सप्ताहों में ही दीख जाता है। कमजोर, बढ़े तीव्र-कुष्ठ में प्रारम्भ में ज्वर आकर गाँठें उभर आती हैं। लेकिन बाद में पुरानी गाँठें भी सूखने लगती हैं। कुछ रोगियों में ऐसा होता है। तीसरी अवस्था में जीवाणुओं की संख्या में कमी होती है + + + का + + में, फिर + में परिवर्तन होता है। अन्त में निषेधात्मक स्थिति आती है। इसकी अवधि भिन्न-भिन्न होती है—४ से ६ मास तक या २ से ५ साल तक। यह अवधि रोगियों की हालत पर निर्भर करती है। प्रत्येक रोगी साल-छह महीने में निश्चित सुधरता है।

पुनरावर्तन का भय : सल्फोन-चिकित्सा से रोग का पुनरावर्तन प्रायः बहुत कम होता है। कुछ लोगों की राय है कि रोग अच्छा होने पर भी कम मात्रा में सल्फोन लेना चाहिए। रोगी सल्फोन-क्षम बहुत कम होते हैं।

सल्फोन का शोषण और निकास : डी० डी० एस० पानी में घुलनशील नहीं है। लेकिन पेट में जाकर घुल जाता और १० मिनट में पच भी जाता है। फिर करीब आधा घंटे में पेशाब से निकलने लगता है। पूरा-पूरा निकलने में करीब १० दिन लगते हैं। यह अँतड़ियों द्वारा शीघ्र सोखा जाता है। इसका निकास भी जल्दी शुरू होता और धीरे-धीरे निकलता है। इसलिए इसका लम्बे समय तक अधिक उपयोगी असर हो पाता है।

विषैला प्रभाव : डी० डी० एस० लाल रक्त-कणों का नाश

करता है। 'हिमोग्लोबिन' भी कम होता है, प्रारम्भ में यह प्राय: अधिक कम होता है। अधिक मात्रा देने से कुष्ठ-प्रतिक्रिया भी पैदा हो जाती है। इसलिए प्रारम्भ में इसे बहुत कम मात्रा में दें। आवश्यकता पड़ने पर लोह, लीवरएक्स्ट्रेक्ट, विटामिन बी० १२ आदि का इस्तेमाल करने से लाभ होता है। प्रतिक्रिया के समय डी० डी० एस० बिलकुल बन्द कर देना चाहिए।

डी० डी० एस० का प्रयोग निरोधक और प्रतिबंधक रूप में अभी नहीं किया गया है। लेकिन कुछ लोगों का खयाल है कि इसका उपयोग प्रतिबंधक रूप में अल्प मात्रा में करना चाहिए।

अन्य औषधियाँ

(१) **थायोसेमोकार्बोजोन :** इसका प्रयोग २५ मिलिग्राम से ३०० मिलिग्राम तक में किया जाता है। जब सल्फोन से प्रगति कम देखी जाती है, तो दोनों एक साथ देने से प्रगति होती है। लेकिन यह अधिक कीमती और विषैली बतायी जाती है। इसलिए इसका सावधानी से प्रयोग करना चाहिए।

आई० एन० एच० और डी० डी० एस० : क्षय और कुष्ठ, दोनों मित्र-रोग हैं। आई० एन० एच० का प्रयोग क्षय में लाभकर सिद्ध हुआ है। इसलिए कुछ कुष्ठ-वेत्ताओं ने कुष्ठ-रोग में डी० डी० एस० के साथ इसका भी प्रयोग करने की सिफारिश की है।

प्रतिबन्धक औषधियाँ : बी० सी० जी० वेकसीन का प्रयोग क्षय और कुष्ठ-रोग, दोनों के निरोध के लिए आज किया जा रहा है। इसमें कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह प्रयोगों के बाद ही सिद्ध होगा। निश्चित रूप से अभी कुछ भी कहना कठिन है।

सारांश, उपचार में सबसे उत्तम तरीका यही है कि डी० डी० एस० की गोलियाँ बड़े पैमाने पर सब तरह के कुष्ट-रोगियों में बाँटी जायँ। सौम्य प्रकार के कुष्ट-रोगियों में जिनमें वैवर्ण्य, नाड़ी-विकृति, बन्दर-पंजा वगैरह हों, उन्हें हिडनोकार्पस आयल- (I. D.) के इञ्जेक्शन दिये जायँ। सल्फोन से प्रगति रुकने पर 'थायोसेमीकार्बोजोन' का प्रयोग साथ में किया जाय। कुष्ट-रोग के उन्मूलन में सरल, सर्वसुलभ, सस्ता, प्रभावकारी और आकर्षक उपचार आज यही उपलब्ध है। तदनुसार इसकी योजना की जानी चाहिए।

आयुर्वेदीय औषधियाँ : कुष्ट-रोग के उन्मूलनार्थ कई आयुर्वेदिक औषधियाँ कही गयी हैं। हरिताल-भस्म, भल्लातक, बाकुची, निम्ब, करवीर, स्वर्ण-माक्षिक, गलितकुष्टारि-रस, शिलाजतु, पारद, लोह, सोमल, स्वर्ण आदि के योग इस्तेमाल किये जाते हैं। आयुर्वेद में ज्ञान की कमी नहीं है, लेकिन शोध का काम न होने से निश्चित परिणाम दिखलाना कठिन है। साधारण चिकित्सा और तुवरक तेल को छोड़कर आयुर्वेद की किसी अन्य औषधि का प्रयोग हम लोग नहीं कर पाये हैं, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है। आहार-शास्त्र, आचार-शास्त्र और मानस-शास्त्र का उपयोग उपचार के रूप में आयुर्वेद में ज्यादा लाभकारी है। अतः उसका सहारा कुष्ट-रोग के निर्मूलन में अवश्य लेना चाहिए। •••

उपद्रवों की चिकित्सा　　: १६ :

पीछे कुष्ठ-प्रतिक्रिया का वर्णन किया जा चुका है। कुष्ठ-रोगी के लिए यह अत्यन्त पीड़ादायक अवस्था होती है। इसलिए इसका ध्यानपूर्वक सतर्कता के साथ उपचार करना चाहिए। अन्य ज्वरों की भाँति इसमें भी रोगी को पूर्ण विश्राम लेना चाहिए। पेट साफ रखना चाहिए। 'सोडाबाइकार्ब' अधिक मात्रा में दिया जाय। ६० ग्रेन की मात्रा बार-बार दें। 'कैल्शियम लैक्टेड' २० ग्रेन दिन में तीन बार देना चाहिए। प्रायः अन्य सह-धर्मी रोग के कारण कमजोर हो जाने से कुष्ठ-प्रतिक्रिया होती है। पेचिश, मलेरिया, कृमि, गुप्तरोग आदि भी प्रायः होते रहते हैं। इनकी जाँच और उपचार करना चाहिए। यदि दूसरा कोई रोग न मिले और साधारण उपचार से ज्वर शांत न हो, तो निम्नलिखित विशेष औषधियों का प्रयोग करना चाहिए :

(१)	सोडा बाइकार्ब	२० ग्रेन
	सोडा सल्फ	१ ड्राम
	सोडा एटबेनजोएट	१० ग्रेन
	सोडा सेलिसिलेट	१५ ग्रेन

इनका मिक्श्चर बनाकर दिन में तीन बार देना चाहिए।

(२) सोडियम या पोटेशियम ऐंटीमनीटाइट्रेट आधी से १ ग्रेन दो सी० सी० नार्मल सलाईन में मिलाकर रक्तशिरा द्वारा एक रोज छोड़कर देना चाहिए। यह बहुत ही तीव्र औषधि है। इसका प्रयोग दो सप्ताह तक करना चाहिए।

(३) यदि इससे भी उपद्रव शांत न हो, तो फेन्टोरिन १ सी० सी० मांसपेशी द्वारा देना चाहिए।

(४) मरक्यूरोक्रोम १ प्रतिशत का घोल दो सी० सी० रक्त-शिरा द्वारा १ दिन छोड़कर दिया जाता है।

(५) फ्लोरोसिन।

(६) वेनाड्रील को मुँह द्वारा देते हैं।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया सल्फोन-उपचार से भी धीरे-धीरे कम हो जाती है। लेकिन अधिक मात्रा में देने से वह प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करता है। सौम्य प्रकार के कुष्ट-रोग में प्रतिक्रिया ज्यादा समय लेती है। उसमें कभी-कभी नाड़ी-शोथ हो जाने से अत्यन्त पीड़ा होती है। 'अलनर' में कभी-कभी फोड़ा बन जाता है।

अन्य उपद्रव

१. नाड़ी-पीड़ा : कुष्ट-रोग पीड़ाविहीन रोग है। लेकिन जब नाड़ी-शोथ हो जाता है, तब अत्यन्त तीव्र वेदना होती है। त्वचा में परिहर्ष होने पर अस्थियों, आँख तथा नाक में पीड़ा हो जाया करती है। सौम्य प्रकार के कुष्ट-रोग में प्रायः नाड़ी-शोथ अधिक होता है। तीव्र-कुष्ट में नाड़ी-शोथ नहीं के बराबर ही होता है। साधारण अवस्था में नाड़ियाँ मोटी होती हैं। कुष्ठ-प्रतिक्रिया में ये वेदनायुक्त हो जाती हैं। इनमें लसिकायाणुओं का अन्तर-भरण और तन्तु-उत्कर्ष होता है, जिससे नाड़ी के अन्दर दबाव बढ़ता है और उसीसे पीड़ा होती है। कुष्ट-प्रतिक्रिया के लिए ऊपर का उपचार करना चाहिए। नाड़ी-शोथ की पीड़ा शांत करने के लिए निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं :

(१) सोडाबाइकार्ब का घोल ½ प्रतिशत का १० सी० सी० मोटी नाड़ी के चारों ओर दें। ½ सी० सी० एड्रीनेलीन या ·०२ ग्रेन एफेड्रीन सूई देने से पहले दे सकते हैं।

(२) ७५ प्रतिशत अल्कोहल ·२५ से ·५ सी० सी० नाड़ी-

शोथ में दिया जाता है। इससे पीड़ा शांत हो जायगी। इसका असर छह मास तक रहता है।

(३) मेगसल्फ (२५ प्रतिशत) देने से ज्यादा दिनों तक असर रहता है।

(४) कोबरावेनम १ से १० यूनिट, एक रोज छोड़कर देना चाहिए।

(५) विटामिन बी १२, ३०० मिलिग्राम प्रतिदिन दें।

(६) फेनोबारबिटोन जैसी वेदना-शामक औषधियों का प्रयोग भी किया जाता है।

इनसे भी यदि नाड़ी-पीड़ा शांत न हो, तो फिर नाड़ी के शोथ को चीरें। इसके लिए 'डाइथर्मी'-शल्य चिकित्सा की जाती है।

(२) त्वचा का परिहर्ष (Hyperesthesia) : तलवों में, विशेषत: तीव्र-कुष्ठ में यह होता है। यह शोथयुक्त और बड़े चकत्तों पर भी होता है। इसमें सल्फोन की थोड़ी मात्रा देने से लाभ होता है। विटामिन बी १२ भी देते हैं।

(३) अस्थियों में पीड़ा : लंबी हड्डियों के सिरों पर हल्का-हल्का दर्द होता है। कभी-कभी रात में सोना भी कठिन हो जाता है। इसमें सोडा सेलिसीलेट और सोडा बाइकार्ब अधिक मात्रा में देना चाहिए।

(४) आँख और नाक के उपद्रव : ये उपद्रव बड़े भयानक होते हैं। अंधा होने तक की नौबत आ जाती है। इस वक्त एट्रोपीन से या हिमोट्रोपीन से पुतली-विस्फार करना चाहिए। ट्राइपेन ब्ल्यू १ : १००० का घोल भी इस्तेमाल करते हैं। अंदर का दबाव ऍरिडिक्टॉमी (Iridectomy) शल्य-चिकित्सा से ठीक करना चाहिए। दूषित दशा में पेनीसिलीन का मलहम

लगायें। सल्फोन से कुछ दिनों में स्वतः ठीक हो जाता है। लेगॉपथाल्मॉस में 'पैराफीन' की बूँद दिन में डाल रात में आँखों पर पट्टी बाँध देनी चाहिए। शल्य-चिकित्सा में 'टार्सोरेफी' करना चाहिए।

नाक में गाँठें, घाव, स्कार का खिंचाव आदि के फलस्वरूप नाक बंद हो जाती है। इसे जलाने के लिए १—१० प्रतिशत ट्राइक्लोरिक अम्ल का प्रयोग करते हैं। लेक्रीमलसैक बंद हो जाने पर पेनोसिलीन देते हैं। अन्यथा शल्य-चिकित्सा करके चीरा देते हैं। इनमें सल्फोन से भी लाभ होता है।

अपुष्टिज व्रण (Trophic-Ulcers) : तीव्र-कुष्ठ में भी प्रतिक्रिया के समय व्रण हो जाते हैं। दूषित होने पर सल्फाडाइजीन, पेनीसिलीन देना चाहिए। अपुष्टिज व्रण पैर में या हाथ में होते हैं। कुछ तो धातुक्षीणता से और कुछ रक्त-संचार में बाधा आ जाने से होते हैं। इसलिए जलने वगैरह से रक्षा करनी चाहिए। निच्छिद्रक व्रण बहुत तकलीफ देते हैं। उनके लिए मुलायम और ठीक सटे हुए जूते पहनने चाहिए। अगर शोथ हो या हड्डी तक असर हो, तो शल्य-चिकित्सा करनी चाहिए। पुराने घावों के चारों ओर हिडनोकार्पस आयल के इञ्जेक्शन दिये जाते हैं। आजकल सबसे उत्तम मलहम 'नोवोलेप' का तैयार किया गया है। घाव को स्वच्छ करके यह मलहम भर दिया जाता है। कभी प्लास्टर पैरिस में भी रखने से घाव भर जाता है।

चिकित्सा की अवधि

कुष्ठ-रोग दीर्घ काल में ठीक होता है। ६–१२ मास में बाह्य लक्षण दुरुस्त होते हैं। रोग के प्रकार, रोगी की अवस्था, उपचार

को नियमितता और सहन करने की शक्ति पर उपचार की अवधि अवलंबित है। साधारणतः यह २ वर्ष से ५ वर्ष समझनी चाहिए।

चिकित्सा कब बंद करें : जब कि (१) जीवाणुओं का अभाव हो, (२) वैवर्ण्ययुक्त चकत्ते मिट जायँ, (३) स्थूल नाड़ियाँ यथावत् हो जायँ, (४) कुष्ट के बाह्य लक्षणों का अभाव हो, तब चिकित्सा बंद कर सकते हैं। यह अवस्था अशक्त (Quiescent) अवस्था होगी। प्रति ३ मास पर परीक्षा की जानी चाहिए। इस तरह दो वर्ष तक परीक्षा करने के बाद रोगी को 'रोग-मुक्त' घोषित किया जा सकता है। ...

कुष्ठ-निरोधक उपाय

अव तक हमने कुष्ठ-रोग से उत्पन्न होनेवाली दशाओं का विवेचन किया। उसकी पहचान, उसका इलाज आदि की भी चर्चा की। अव इस बात पर ध्यान दें कि क्या ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है, जब कि समाज में यह रोग पैदा ही न हो। यद्यपि अब तक के विवेचन का उद्देश्य भी रोग का उन्मूलन करना है, फिर भी कुष्ठ-निरोध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पू० विनोवाजी ने उत्तर प्रदेश कुष्ठ-कार्यकर्ता-सम्मेलन का उद्‌घाटन करते समय वैदिक मंत्रों का उद्धरण देते हुए कहा था कि 'आरोग्य के लिए जरूरी है कि इन दो वातों पर ध्यान दिया जाय : (१) रोग उत्पन्न ही न हो—ऐसे उपाय खोजना और (२) रोग हो जाने पर उसकी प्रत्यक्ष सेवा-सुश्रूषा की व्यवस्था करना।' वाइविल में भी अलग्नीकरण की वात कही गयी है। आज का मेडिकल विज्ञान भी 'रोग-निरोध' को उपचार से कहीं ज्यादा महत्त्व देता है।

फिर भी यह निरोध कठिन परीक्षा लेनेवाला है। हमारे देश में सौ डेढ़ सौ वर्षों से अब तक ईसाई मिशनरी कुष्ट-रोगियों की अच्छी सेवा करते आ रहे हैं। सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी इस दिशा में काम किया है। लेकिन आज ऐसा कोई छोटा-सा भी क्षेत्र नहीं दिखाया जा सकता, जहाँ इस रोग का पूर्णतः उन्मूलन हुआ हो। इसका अर्थ यही है कि यह काम काफी मुश्किल है। साधन-सामग्री अपूर्ण है और काम करनेवाले भी कम !

कुष्ठ-निरोध की कोई योजना बनाते समय निम्नलिखित मुख्य तीन बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

(१) कुष्ठ-रोग के प्रति जाग्रति (Leprosy Conciousness) : गलत धारणाओं का खण्डन और सही ज्ञान का प्रचार तथा घृणा, उपेक्षा, अज्ञान और वहमों का निराकरण।

(२) लोगों का जीवन-स्तर : स्वच्छता, रीति-रिवाज, भोजन, रहन-सहन और सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक स्तरों का विकास।

(३) अलग्नीकरण एवं उपचार : सांसर्गिक प्रकार के कुष्ठ-रोगियों को घर, गाँव या संस्था में अलग रखकर संसर्ग टालने की व्यवस्था ।

इन तीनों में से किसे प्रथम स्थान दिया जाय, यह कहना कठिन है। महत्त्व की दृष्टि से तीनों समान हैं।

कुष्ठ-रोग के प्रति जाग्रति : समाज में कुष्ट-रोग के प्रति घृणा, उपेक्षा और उदासीनता है। लोग भीख माँगनेवाले लँगड़े-लूले कोढ़ी को दया-धर्म के नाम पर एक पैसा देकर कर्तव्यपालन का झूठा समाधान कर लेते हैं। टिहरी-गढ़वाल की ओर पहाड़ी क्षेत्रों में लोग कुष्ट-रोगी को समारोहपूर्वक नशा पिलाकर, सजा-धजाकर ढोल पीटते नदी के किनारे ले जाते और उसे नदी में ढकेलकर डुबा देते थे। चीन में उन्हें गोली से मार देने के उदाहरण मिलते हैं। यूरोप में कुष्ट-रोगी की सामाजिक मृत्यु ही घोषित की जाती थी। दोनों ही अति दयनीय स्थितियाँ हैं। हमें लोगों के दान-धर्म की भावना को सही दिशा में ले जाना है और साथ ही व्यर्थ के भय, घृणा और वहम भी निकालने हैं। यह रोग कैसे फैलता है, इसके लक्षण, स्वरूप आदि क्या

हैं, इसका संसर्ग कैसे टाला जा सकता है आदि बातों की जानकारी लोगों को देनी होगी।

एक आक्षेप का उत्तर यहाँ देना जरूरी है। भूत-दया का नाम तो हमारे यहाँ बहुत लिया जाता है, पर आज मानव-सेवा को लोग भूल गये हैं। जिस करुणा से मानव ऊपर उठें, उसीका उपयोग मानव-सेवा में ठीक-ठीक किया जाय, तो उससे बड़ी शक्ति समाज को मिल सकती है। आज यह एक नया आकर्षक नारा चला है कि 'कुष्ठ-सेवा का राष्ट्रीकरण हो।' यानी राष्ट्रीय सरकार का काम है कि वह कुष्ठ-समस्या को भी राज्य की ओर से हल करे। इसका जिक्र पीछे किया गया है। यहाँ प्रसंगवश इतना ही कहना है कि जो काम जनता के सेवक कर सकते हैं, वे सरकारी नौकर नहीं कर सकते। दान, भूतदया, करुणा आदि जनता की भावनाओं को आज समाज-परिवर्तन की दिशा में मोड़कर क्रांतिकारी कदम उठाने का दिन आया है। दूसरे राष्ट्र इस बारे में हमारा मार्ग-दर्शन करने में असमर्थ हैं। भारत की जनता राज्याभिमुख न बने, यही ज्यादा अच्छा है।

रोग के बारे में जो कुछ वैज्ञानिक ज्ञान आज हमारे पास है, उससे हम कह सकते हैं कि निम्नलिखित बातों का प्रचार करना चाहिए : (१) कुष्ठ-रोग उपचार-साध्य है, (२) इसकी सांसर्गिकता अत्यन्त कम है, (३) यह प्रत्येक वर्ग में हो सकता है—गरीब, अमीर दोनों में हो सकता है, (४) इसकी बच्चों में ज्यादा सम्भावना रहती है और (५) यह एक सामाजिक रोग है। डॉ० ई० म्यूर का मत है कि 'इस रोग की चिकित्सा कठिन है। लेकिन इसे न होने देना सरल है। यदि लोग थोड़ी-सी मामूली सावधानी बरतें, तो कुष्ठ-रोग पर नियन्त्रण करना सरल हो जायगा।' बच्चों को स्कूलों में सरल और रोचक

भापा में इसकी जानकारी करानी चाहिए। स्थानीय बोर्ड, सरकारी तंत्र, अखबार, रेडियो, सिनेमा आदि के द्वारा लोगों को इन बातों की बहुत कुछ शिक्षा दी जा सकती है।

जीवन-स्तर उठाना अत्यावश्यक

कुष्ठ-रोग अन्य किसी बीमारी की तरह मनुष्य की सेहत से बहुत संबंध रखता है। यह रहन-सहन की आदतों, पर्याप्त भोजन, स्वच्छता, सामाजिक रीति-रिवाज आदि से अत्यधिक संबंध रखता है। जहाँ दो समय पेटभर भोजन भी मुश्किल होता है, बेकारी और गरीबी के भयानक दृश्य दीख पड़ते हैं, सेहत को खराब करनेवाले बुरे धंधे विवश होकर करने पड़ते हैं—साइकिल-रिक्शा चलाकर, औद्योगिक नगरों की भीड़-भाड़ और तंग-गंदी बस्तियों तथा अँधेरे, सीड़युक्त, खन्दकों में दिन-रात काम करके भी जहाँ स्वच्छ निवास की व्यवस्था न हो, वहाँ आप कितने भी उपाय कीजिये, रोग का प्रसार रुक नहीं सकता।

आज डाक्टरी उपचार में सर्वोत्तम स्तर 'रेड-क्रास' काम का माना जाता है। उसमें अपनी जान खतरे में डाल, रणक्षेत्र में जाकर जख्मियों की सेवा की जाती है। फिर भी वे युद्ध नहीं रोक सकते, जो कि उस मुसीबत का कारण है। ठीक इसी तरह समाज की उस गलत रचना का इलाज डाक्टरी विद्या में नहीं है, जिसके कारण देश में बेहद गरीबी तथा बेकारी है और उसीके फलस्वरूप भुखमरी और बीमारियाँ पैदा होती हैं। उल्टे आज का डाक्टर-वर्ग भी उस गरीबी को बढ़ानेवाली जंजीर की एक कड़ी बन गया है। इस कारण भी आज समाज में शोषण बढ़ गया है। इसलिए हम बहुत नम्रता के साथ कहना चाहते हैं कि यदि लोगों का स्वास्थ्य सुधारने की हार्दिक इच्छा हो, तो ऐसी

परिस्थिति पैदा कीजिये, जिससे सबको अच्छा भोजन मिल सके, सबको काम मिल सके और सबका जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके। ये सब प्रत्यक्ष करने की बातें हैं। अपने से शुरू करके ही दूसरों को सिखाया जा सकता है।

सर्वोदय-विचार से मदद : कुष्ठ-समस्या में हमारी भी परीक्षा होगी। कोई भी समस्या अकेली हल नहीं होती। आर्थिक, सामाजिक और मानसिक तत्त्वों का सम्बन्ध प्रत्येक जीवन से अनिवार्य है। अतः इस समस्या का हल उन्हीं तरीकों से संभव है, जिनसे गरीबी, बेकारी और भुखमरी मिटे। अब ये सब कैसे हों ? जाहिर है कि गाँवों में ही छोटे-छोटे धंधे खड़े करने होंगे। पूर्ण काम की व्यवस्था और आर्थिक समता कायम करनी होगी। ये सब जबरदस्ती नहीं हो सकते। कानून का उपयोग हो सकता है, लेकिन ज्यादा काम स्वेच्छा से ही होगा। हर कोई गाँव के लिए, देश के लिए, समाज के लिए सोचे और करे। अपने-अपने की होड़ खतम हो। सब मिलकर पूरे गाँव को उठाने में लगें। जिसके पास जो शक्ति, धन, बुद्धि और श्रम हो, उसे वह समाज की सेवा में लगाये। सर्वोदय-विचार में वह शक्ति है, जिससे सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

अलग्नीकरण

यह निर्विवाद है कि जब तक सांसर्गिक रोगियों से संसर्ग होता रहेगा, तब तक यह रोग भी बढ़ता ही जायगा। यदि दो पीढ़ियों के बच्चों को भी संसर्ग से बचा सके, तो काफी मात्रा में कुष्ठ-रोग पर नियंत्रण पाया जा सकता है। आज परिस्थिति यह है कि पहले तो कुष्ठी उपचार ही नहीं लेता। यदि 'सल्फोन'

दिया भी, तो दुरुस्त होने और असांसर्गिक अवस्था तक पहुँचने में २-३ वर्ष लग ही जाते हैं। तब तक वह दस-पाँच नये रोगी बना ही देता है। इसलिए रोग की वृद्धि नहीं रुकती। तब प्रश्न यही है कि इस कठिन समस्या का हल क्या है? आज इसका उत्तर 'अलग्नीकरण' है।

अलग्नीकरण के भेद : अब तक अलग्नीकरण पर तीन तरह के प्रयोग हुए हैं : (१) संस्थाजन्य अलग्नीकरण, (२) गृहजन्य प्रकोष्ठीय अलग्नीकरण और (३) ग्रामजन्य या रात्रिजन्य अलग्नीकरण।

१. संस्थाजन्य अलग्नीकरण : संस्थाजन्य अलग्नीकरण का अर्थ है कि कुष्ठ-रोगी को समाज से अलग कर एक निर्धारित कुष्ठ-सेवा-संस्था में रखना। इसके गुण-दोषों को सारिणी द्वारा नीचे समझाया जा रहा है :

गुण	दोष
(१) प्रभावकारी होता है	घर से अलग करता है, जिससे घरवालों का प्रश्न खड़ा होता है।
(२) जीवन को स्पर्श करनेवाला साबित होता है। रोगी का नैराश्य, मानसिक तनाव आदि कम होता है। अपने ही समान दुःखी रोगियों के बीच रहकर मानसिक दुःख बँट जाता है। सामूहिक जीवन, औद्योगिक ट्रेनिंग और सेवा का शिक्षण मिलता है।	परिस्थितिवश जबरदस्ती एकाकी जीवन के जो मानसिक नुकसान हो सकते हैं, वे पैदा होते हैं। यह खर्चीला होता है।

(३) कुष्ठ-कार्यकर्ताओं के लिए शिक्षण, शोध और प्रयोगात्मक (Demonstrative) काम होता है।	अधिक समय तक गुप्त रहता है। जब तक संस्था में न आये, तब तक रोग-प्रसार होता है। आने पर भी काफी दिनों तक रहना पड़ता है। दुरुस्त होने पर वापस समाज में बसने में दिक्कतें होती हैं।
(४) उपचार नियमित होता है।	

डॉ० म्यूर लिखते हैं कि 'हम संस्थाजन्य अलग्नीकरण का मूल्य कम नहीं आँकते। किन्तु यदि केवल उसी पर निर्भर रहें, तो वह वैसा ही प्रयत्न होगा, जैसा कि बाल्टी से समुद्र को खाली करने का प्रयत्न।'

गृहजन्य प्रकोष्ठीय अलग्नीकरण : घर में ही अलग कमरे में रहकर उपचार लेना इसका अर्थ है। चाहे दवा क्लिनिक से लायें, चाहे गाँव में ही दवा की जो व्यवस्था हो, वहाँ से लाकर खायें। घरवालों और गाँववालों की रक्षा का ध्यान रखकर घर पर ही अलग रहें। इस प्रकार के गुण-दोष निम्नलिखित हैं :

गुण	दोष
(१) सरल और ऐच्छिक है।	इसे ठीक से कर नहीं पाते, इसलिए यह प्रभावकारी नहीं होता।
(२) घर का काम-धंधा देखते हुए घर के सान्निध्य का का लाभ मिलता है।	उपचार में नियमितता नहीं रहती।
(३) यह कम खर्च में व्यापक रूप में हो सकता है।	गरीबी, तंगी, अज्ञान के कारण यह सधता नहीं।

ग्रामजन्य या रात्रिजन्य अलग्नीकरण : एक-दो गाँव के लोग मिलकर बाहर झोपड़ियाँ बनाकर कुष्ठ-रोगियों की व्यवस्था कर सकते हैं। गाँव में से ही सेवक उनकी सेवा के लिए तैयार हो जायँ।

इसमें बहुत कम प्रयोग हुए हैं। मद्रास-सरकार ने डॉ० कॉकरेन द्वारा रात्रि-अलग्नीकरण का यह प्रयोग किया, जिसमें रात को भोजन देने की व्यवस्था थी। वहाँ एक कर्मचारी रहता था, कभी नहीं भी रहता था। फलतः रोगी रात में उठकर भाग जाते थे। इसलिए खर्च भी व्यर्थ होता था। उससे कोई लाभ नहीं हुआ। यदि ठीक व्यवस्थित ढंग से इस पर प्रयोग किया जाय, तो कुछ कहा जा सकता है। पहले स्थानपदिक (Endemic) प्रदेश में ही इसका प्रयोग करें, तो अधिक सफलता पाने की सम्भावना है।

ऐच्छिक हो या अनिवार्य ? : जहाँ तक हो, ऐच्छिक अलग्नीकरण ही अधिक लाभदायी होता है। अपने देश में, जहाँ औसतन अधिक रोगी हैं, कानून की मदद लेनी चाहिए। सामाजिक कार्यों से निवृत्त करने का नियम तो बनाना ही चाहिए। ...

कुष्ठ-रोग का सर्वेक्षण

विज्ञान ने कुष्ठ-रोग को निर्मूल करने के लिए अनेक वार कोशिशें की हैं। इसमें जीवाणु का संवर्धन न हो सकना एक बड़ी भारी वाधा रही है। अतः प्रयोगशाला से अधिक महत्त्व क्षेत्र के कार्यों को देना पड़ा और कुष्ठ-निर्मूलन में वार-वार सर्वेक्षण करने का महत्त्व अत्यधिक मालूम हुआ।

रोग-प्रसार के विषय में लिखते समय इस वात का वर्णन किया गया है कि कुष्ठ-रोग का प्रसार विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न है। कहीं औसत प्रसार वहुत कम है, तो कहीं अत्यधिक। मामूली जानकारी के आधार पर कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती, क्योंकि एक तो तीव्र-कुष्ठ के रोगी देर से पहचाने जाते हैं और लोग कुष्ठ-रोग को छिपाते भी हैं। इससे कुष्ठ-प्रसार रोकना कठिन होता है। कहा जाता है कि कुष्ठ-रोग आदिवासी और सभ्य दोनों के वीच के समाज में अधिक होता है। मध्यम वर्ग में भी निम्न श्रेणी की संख्या अपने देश में अधिक है। इस-लिए कुष्ठ-रोग की पूरी जानकारी और रोगियों एवं उनके संसर्ग का सर्वेक्षण वहुत आवश्यक है।

उद्देश्य और प्रकार

सर्वेक्षण के उद्देश्य : सर्वेक्षण के दो उद्देश्य हैं, एक तो कुष्ठ-रोग का निर्मूलन और दूसरा ज्ञान-वृद्धि। यों पहले में दूसरा भी आ जाता है, लेकिन केवल ज्ञान-वृद्धि के लिए किये गये श्रम और खर्च का कोई उपयोग नहीं हो सकता। कुष्ठ-निर्मूलन का

उद्देश्य लेकर किये जानेवाले सर्वेक्षण में आवश्यक बातों पर ही ध्यान दिया जाता है, व्यर्थ के विस्तार में नहीं जाते। दूसरे, सर्वेक्षण भी कुष्ठ-निर्मूलन का एक अंग बन जाना चाहिए। तभी रोगियों को समाज का खरा सहयोग मिल सकेगा। अन्यथा सहयोग के अभाव में परेशानी ही होगी। सही जानकारी भी इकट्ठा न कर सकेंगे।

सर्वेक्षण के प्रकार : सर्वेक्षण के दो प्रकार हैं : (१) व्यापक या सर्वसाधारण (Extensive) और (२) गहरा या विशिष्ट (Intensive)। व्यापक सर्वेक्षण में सर्वसाधारण जानकारी हासिल की जाती है। इसमें (१) ज्ञात रोगियों की जाँच, (२) स्कूल के बच्चों की जाँच या इस प्रकार की अन्य सामूहिक संस्था की जाँच और (३) कुष्ठ-रोगी के संसर्गों की जाँच की जाती है। विशिष्ट सर्वेक्षण में पूरे समाज की जाँच की जाती है। यह काम अनुभवी कार्यकर्ताओं द्वारा अस्पताल में और लोगों के घर जाकर करना होता है। व्यापक सर्वेक्षण पर्याप्त होता है, इसलिए प्रथम वही करना चाहिए। लोगों का विश्वास और सहयोग प्राप्त हो जाने पर छोटा-सा घना क्षेत्र लेकर गहरा सर्वेक्षण करें।

सर्वसाधारण या व्यापक सर्वेक्षण

यों तो सर्वेक्षण के अनेक तरीके प्रचलित हैं, लेकिन सबसे उत्तम पद्धति 'पी० टी० एस०' (Method of Propaganda, Treatment, Survey) याने प्रचार, उपचार और सर्वेक्षण पद्धति है। इसमें कुष्ठ-रोगी स्वयं आकृष्ट होते हैं, जबर्दस्ती करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उपेक्षित और निराश रोगियों में उत्साह का संचार होता है।

उपचार की व्यवस्था साथ में करनी ही पड़ती है। सौम्य

प्रकार के रोगियों के चकत्ते आई० डी० से कुछ दिनों में सुधर जाते हैं। तीव्र-कुष्ठ के बाह्य स्थूल लक्षण सल्फोन से कम हो जाते हैं। इन सबका प्रभाव अत्यधिक होता है। बीमार और समाज दोनों का विश्वास मिल जाता है। एक बार विश्वास मिल जाने पर फिर रोगियों के घर, संसर्ग वगैरह सब अच्छी तरह देखने को मिल जाते हैं। रोगी स्वयं ही आकर जाँच कराने लगते हैं। इस तरह सर्वेक्षण का काम बहुत सरल हो जाता है।

उपचार और सर्वेक्षण के साथ-साथ प्रचार या शिक्षण का कार्य भी करना चाहिए। अज्ञान, वहम, घृणा, उपेक्षा, उदासीनता गलत धारणाएँ इन सबसे कुष्ठ-निर्मूलन में बाधा पड़ती है। लोगों पर प्रत्यक्ष चीजों का जो असर पड़ता है, वह भाषण या पुस्तकों से नहीं। समाज अपंग, कुपंग, कुष्ठ-रोगी से डरता है, जब कि रोग-प्रसार की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है। बच्चों को लोग कुष्ठ-रोग से अछूते समझते हैं, जब कि सबसे अधिक इसी अवस्था में रोग का संसर्ग होता है। तीव्र-कुष्ठ के चकत्तेवाले रोगी को हानिकर नहीं समझते, जब कि सबसे ज्यादा प्रसार उसी-से होता है। ये सब जनता को विस्तार में जाकर और प्रत्यक्ष दिखाकर बताना होगा। साधारण जानकारी देने से काम नहीं होगा। यह भी कह देना उचित है कि पी० टी० एस० पद्धति से ही कुष्ठ-निर्मूलन नहीं हो सकता। यह तो एक प्रारम्भ ही होगा। उसके आगे जाकर गहराई में काम करना होगा। उपचार-सेवा-केन्द्र, अलग्नीकरण-केन्द्र, गहरा सर्वेक्षण वगैरह की जरूरत होगी। भारतवर्ष के कुष्ठ-रोगियों के आँकड़े अनुमानतः १२००००० समझे जाते हैं, जिनमें २४०००० सांसर्गिक होंगे।

कुष्ठ-जाग्रति, जीवनस्तर का ऊँचा उठाना और अलग्नीकरण की व्यवस्था आदि जब हों, तभी ये सारे प्रयास सफल होंगे।

इसमें समय और मेहनत की जरूरत है। सेवा-वृत्ति और देश-प्रेम की भावना रखनेवाले शिक्षित लोग, विशेषतः डाक्टर जब देहातों में जाकर काम करेंगे, तभी यह समस्या हल हो सकेगी।

नाइजेरिया का प्रयोग : सबसे अच्छा तरीका और आदर्श कार्य पूर्वी नाइजेरिया में हुआ है। वह घनी आबादी का प्रदेश है। सर्वप्रथम वहाँ एक कुष्ठ-धाम खोला गया। ऐच्छिक आधार पर सांसर्गिक रोगियों को प्रवेश दिया गया। कुछ ही वर्षों में संख्या बहुत हो गयी। फलतः दूसरे उपायों का प्रयोग शुरू किया गया। कुष्ठ-धाम स्वतः आखिरी चीज नहीं थी। कुष्ठ-कार्यों का वह एक केन्द्र बना, जहाँ से सारे प्रदेश में काम का विस्तार किया गया। वहाँ के रोगियों से भी इस काम में मदद ली गयी और जो अच्छे होकर गये, वे उत्तम प्रचारक बन गये।

अन्य गाँवों के मुख्य लोगों ने माँग की कि हमारे गाँव में भी रोगियों को मदद दी जाय, उपचार किया जाय। तब इसी आधार पर काम करने का प्रारम्भ किया गया कि गाँववाले कुष्ठ-रोगियों की अलग झोपड़ियाँ बना दें और उपचार के लिए मकान भी बनायें। यह हो जाने पर डाक्टर और सहयोगी कार्यकर्ता वहाँ गये और सर्वेक्षण किया। सांसर्गिक रोगियों को अलग मकानों में रखा गया। उनका निर्माण अनुभवी लोगों के मार्ग-दर्शन में हुआ। लेकिन सारा काम गाँववालों ने किया। उपचार-केन्द्र सबकी व्यवस्था करने के लिए खुल गया। इस तरह ग्रामजन्य अलग्नीकरण और उपचार की व्यवस्था वहीं की सहायता पर खड़ी हो गयी।

एक प्रदेश में जब यह हुआ, तो दूसरे गाँववालों को भी इससे प्रेरणा मिली। उन्होंने भी इसी तरह उपचार-केन्द्र और अलग्नीकरण-केन्द्र बनाने शुरू किये। इस तरह उस प्रान्त

के अधिक भाग में ये केन्द्र स्थापित हो गये और वे बहुत बड़ी संख्या (१८,५५४) में रोगियों को अलग कर सके। कुल रोगियों की संख्या २० लाख थी। प्रति हजार ३५ याने ३॥ प्रतिशत थी। सबसे बड़ी दिक्कत अनुभवी कार्यकर्ताओं की हुई। लेकिन अब ये लोग भी कहीं से मिल जाते हैं।

इस तरह गाँव में प्रचार और शिक्षण प्रत्यक्ष होता है। स्वयं के पुरुषार्थ से कमाया हुआ ज्ञान दूसरों के बताये हुए ज्ञान से ज्यादा टिकाऊ और प्रभावकारी होता है। देखते-देखते रहन-सहन का स्तर, स्वच्छता, गलत धारणाएँ भी दूर होती हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि पूर्वी नाइजेरिया का यह निर्माण वहाँ की खास परिस्थितियों के कारण भी सफल हुआ है। औद्योगिक क्षेत्र में, जहाँ आना-जाना ज्यादा रहता है, शायद यह सम्भव नहीं। मुख्य गाँव का सहकार भी वहाँ का स्थानिक गुण है। लेकिन इससे यह सबक मिलता है कि सर्वेक्षण का काम करते-करते वहाँ कुष्ठ-निर्मूलन की स्थायी व्यवस्था बन गयी।

स्कूल के बच्चों का सर्वेक्षण : प्रारंभिक सर्वेक्षण का सबसे सरल स्थान स्कूल है। वहाँ सब बच्चों की जाँच आसानी से हो जाती है। अध्यापकों का सहयोग भी मिल जाता है। एक दिक्कत अनुपस्थित विद्यार्थियों की आती है। इसलिए कई बार स्कूल जाना पड़ता है। जो बच्चे कुष्ठ-रोग से पीड़ित होते हैं, वे अपने को छिपाना चाहते हैं। इसलिए अचानक बिना पूर्व-सूचना के भी जाना चाहिए। कुर्ता-कमीज उतरवा कर सबको लाइन में खड़ा कर दें और बारी-बारी से स्टूल पर खड़ा करके देखते जायँ! एक घंटे में १०० बच्चों की परीक्षा की जाय। दूसरे चर्म-रोग भी दीखें, तो उन्हें भी नोट कर लेना चाहिए। जिन बच्चों में रोग मिले, उनके घर जाना चाहिए, ताकि संसर्ग का मुख्य स्थान वहाँ मिल

सके। उनके उपचार की व्यवस्था तुरत होनी चाहिए। सांसर्गिक रोगियों को कुष्ठ-धाम में भेज देना चाहिए। सौम्य प्रकार के रोगियों को वाह्य उपचार देकर ठीक करना चाहिए। प्रचार और शिक्षण का कार्य भी स्कूलों के जरिये बहुत अच्छा होता है।

अन्तिम सर्वेक्षण

अन्तिम सर्वेक्षण करते समय पिछले सारे रिकार्ड इकट्ठा करें और अध्ययन करें। औसत प्रसार कुष्ठ-रोगियों की संख्या प्रति एक हजार जनसंख्या पर निकालें। निम्नलिखित विषयों की जानकारी हासिल की जाय :

१. उस क्षेत्र में जनसंख्या कितनी है ?

२. कितने लोगों की परीक्षा की ?

३. अलग्नीकृत रोगियों की संख्या भी शामिल करें।

४. सब प्रकार के कुष्ठ-रोगियों को नोट करें। स्वस्थ हुए लोगों को भी लें।

साधारण जानकारी : क्षेत्र का चुनाव अतिसीमित, सुनिश्चित और एक प्रशासकीय इकाई हो। क्षेत्र की साधारण जानकारी के मुद्दे निम्नलिखित हों : (१) जलवायु, (२) भौगोलिक परिस्थिति, (३) आर्थिक परिस्थिति, (४) धार्मिक-सामाजिक परिस्थिति, (५) भोजन, (६) रहन-सहन, (७) मुख्य धंधे, (८) मुख्य अन्य रोग, (९) जीवन-मरण का औसत (१०) जनसंख्या और (११) कुष्ठ-रोग का इतिहास।

व्यक्तियों की साधारण जानकारी के मुद्दे ये हैं : (१) क्रम-संख्या, (२) घर की संख्या, (३) नाम, (४) उम्र, (५) लिंग, (६) जाति, (७) परिवार-संख्या, (८) शारीरिक परीक्षा और (९) कुष्ठ-रोग के संसर्ग का इतिहास।

प्रमुख सात निर्देश : यह दूसरे प्रकार का अन्तिम सर्वेक्षण

समस्त जनसंख्या की प्रत्यक्ष जाँच कर किया जाता है। प्रारम्भिक सर्वेक्षण, प्रचार और सेवा से लोगों का विश्वास संपादन कर लेने के बाद ही यह दूसरा सर्वेक्षण शुरू करना चाहिए। जहाँ आर्थिक या सामाजिक सर्वेक्षण होते हैं, उसके साथ कुष्ठ-रोग का भी आसानी से सर्वेक्षण हो सके, तो वह बहुत अच्छा होगा। स्थानिक परिस्थियों को देखकर ही इसका निर्णय करना चाहिए।

एक छोटा-सा क्षेत्र निश्चित कर काम शुरू करें। कई जगह इसके प्रयोग किये गये हैं। वहाँ मुख्यतः निम्नलिखित सात बातों की जानकारी की ओर विशेष ध्यान दिया गया है :

(१) कुष्ठ-रोग का प्रसार, जिसमें कुष्ठ-रोगियों की संख्या मालूम कर औसत एक हजार पर निकालें। इसमें यह भी देखें कि नये रोगी कितने मिले। ज्ञात रोगियों और नये रोगियों का औसत प्रतिशत में निकालें।

(२) नये रोगियों में सांसर्गिक प्रकार के कितने हैं ? उनमें उपचार कितने लेते हैं ? अलग कोई रहता है या नहीं ?

(३) सांसर्गिक रोगियों में उपचार लेनेवालों में कितने अब असांसर्गिक बने या उनका रोग मृतप्राय हुआ ?

(४) संसर्ग का इतिहास, घर या परिवार का, लिखना चाहिए। बाहर का हो, तो उसे भी लिखें।

(५) तुलनात्मक सांसर्गिकता का हिसाब भी निकालें। कितने सांसर्गिक प्रकार के रोगी से संसर्ग लेकर रोगी बनें या कितने क्रियाशील सौम्यरोगी से संसर्ग लिये हैं ?

(६) प्रारम्भिक चकत्तों का स्थान, विस्तार और प्रसार का निरीक्षण करें। प्रायः खुले भागों पर प्रारम्भ में चकत्ते होते हैं।

(७) यदि कोई अन्य सहयोगी चर्म-रोग हों, तो उनका तथा

गुप्त रोगों का विवरण दें। घर की रहन-सहन का हिसाब भी रखें। प्रायः बहुत भीड़-भाड़ में रोग अधिक देखा जाता है।

सर्वेक्षण को मिलाने के लिए एक दूसरा क्षेत्र भी चुनना चाहिए, ताकि परिणामों की पुष्टि हो जाय या दो विरोधी जानकारियों को पुनः जाँचा जा सके।

उसी क्षेत्र में पुनः १ वर्ष या अधिक-से-अधिक ५ वर्ष में पुनः सर्वेक्षण करना चाहिए। विशेषतः नियंत्रण के कार्यों की जाँच करने के लिए भी यह आवश्यक होता है। दूसरे भुखमरी, अकाल, महामारी आदि का भी परिणाम सर्वेक्षण के आँकड़ों पर पड़ता है।

कुष्ठ-उपचार-केन्द्र

कुष्ठ-निर्मूलन में उपचार-केन्द्र का बहुत महत्त्व है। इसलिए उसके कामों की व्याख्या करना भी उचित होगा। मुख्यतः उसके निम्नलिखित छह कार्य हैं :

(१) सभी कुष्ठ-रोगियों को उपचार देने की व्यवस्था।

(२) निरीक्षण : (क) जो रोगमुक्त होकर घर वापस जायँ, उनकी बराबर जाँच करते रहें, (ख) सांसर्गिक रोगियों के बच्चों तथा संसर्गों की जाँच करने की व्यवस्था और (ग) संदिग्ध व्यक्तियों की जाँच।

(३) जिन रोगियों ने उपचार छोड़ दिया हो या जो अलग्नीकरण-केन्द्र से भाग गये हों, उनकी सूची तैयार करना।

(४) अलग्नीकरण उपचारवाले सभी रोगियों की विस्तृत सूची। ये सारी सूचियाँ बिलकुल नयी होनी चाहिए।

(५) जिन्हें अस्पताल के उपचार या अलग्नीकरण आवश्यक हैं, उन्हें वे उपलब्ध कराने का यत्न करना।

(६) सर्वेक्षण से जो जानकारी प्राप्त की जाय, उन सबका रिकार्ड रखना तथा सर्वेक्षण और प्रचार में मदद करना। ...

कुष्ठ-सेवा-संगठन और कुष्ठाश्रम : १६ :

संघटन की आवश्यकता : संगठन के अभाव में प्रायः कुष्ट-कार्य बिखरा हुआ या अव्यवस्थित होता रहता है। जिसके सामने जो साधन मिले, उन्हींसे वह कुछ-न-कुछ करता जाता है। इसमें भी लगन और सातत्य का अभाव रहता है। पूरी समस्या समझने और दूरदर्शितापूर्ण आवश्यक कदम उठाने की क्षमता भी पनप नहीं पाती। इसलिए यह आवश्यक है कि इसमें सबकी मदद लेकर एक संगठन बनाया जाय। सरकारी, गैर-सरकारी, डाक्टर, शिक्षक, प्रशासक आदि सबको मिलाकर इस काम के लिए संगठन बनाना चाहिए, जो सर्वेक्षण, उपचार-केन्द्र, अलग्नीकरण संस्था, आदि कुष्ट-निरोधक कामों को चलाने के लिए जिम्मेदार रहे।

इसी उद्देश्य से कुष्ट-सेवा के प्रमुख कार्यकर्ता गांधीजी के पास पहुँचे थे और उन्होंने चाहा कि भारतवर्ष के लिए भी इस प्रकार का एक संगठन बन जाय। गांधीजी का एक ही उत्तर था : 'कम-से-कम १०० व्यक्ति पूरी निष्ठा से इसमें पड़े हों, तब वैसा संगठन बन सकता है।' आज देश में सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाएँ कुष्ट-कार्य करती हैं। लेकिन सबका मिलकर अपेक्षित कार्य नहीं सधता, जिससे कुष्ट-कार्य की हानि ही होती है।

आज सबसे बड़ा प्रश्न डाक्टर और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच सहयोग का है। डाक्टर लोग साधारण चिकित्सा में कुष्ट-रोग का उपचार नहीं करते। कुछ सामाजिक कार्यकर्ता यदि इस काम में पड़ते हैं, तो वह केवल भूत-दया का काम होकर रह जाता है। एक रोग की तरह इस समस्या को हल नहीं किया

जाता। अस्पताल में क्षय-रोगी को भर्ती कर लेंगे, लेकिन कुष्ठ-रोगी के लिए उसके दरवाजे बन्द हैं। यदि कभी करेंगे भी, तो साधारण सावधानी में भी उपेक्षा बरती जायगी। कुष्ठ-कार्यकर्ताओं में भी आज छोटी-छोटी बातों को लेकर अनेक भेद निर्माण हुए हैं, जिनसे काम की प्रगति रुक जाती है। यदि हमें वास्तव में सेवा करनी है, तो इन सभी बातों को छोड़कर व्यापक और उदात्त भावना से मिल-जुलकर काम करना चाहिए।

आवश्यक सामग्री : कुष्ठ-नियंत्रण के लिए आवश्यक सामग्री निम्नलिखित है : (१) क्षेत्र का औसत कुष्ठ-प्रसार (Incidence), क्षेत्रफल, जन-संख्या, रहन-सहन और मानसिक स्तर, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की पूरी जानकारी। (२) सुशिक्षित अनुभवी कार्यकर्ता—डाक्टर, नर्स, कम्पाउण्डर, समाज-सेवक। (३) आर्थिक-व्यवस्था और (४) कुष्ठ-सेवा-केन्द्र तथा कुष्ठ-धाम।

कुष्ठ-धाम और उसके प्रकार

कुष्ठ-धाम का निर्माण और उसका उपयोग दो तरह से होता है : १ 'सेण्ट्रीपिटल और २ सेण्ट्रीफुगल।

सेंट्रीपिटल : इस पद्धति में स्वेच्छा से रोगी आते रहते और उपचार कराते हैं। सांसर्गिक रोगियों का अलग्नीकरण भी होता है, जिससे समाज से कुछ हद तक संसर्ग के अड्डे कम होते हैं। ठीक होने पर रोगी अपने घर वापस जाते हैं, जिससे प्रचार भी होता और अधिकाधिक संख्या में रोगी उपचार के लिए आने लगते हैं। कुष्ठ-धाम में रोगी को उपचार के साथ-साथ कुछ सिखाया भी जाता है और वह मेहनत कर कुछ कमाने लायक बनता है। स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद रहन-सहन की आदत पड़ती है। स्नेह, आदर और सेवा भी मिलती है।

इस प्रकार के कुष्ठ-धाम पुराने अनाथालयों से निश्चित रूप में उत्तम हैं, जहाँ हमेशा के लिए कोढ़ी आकर पड़े रहते थे। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि आज भी इन कुष्ठ-धामों की पहुँच आवश्यकतानुसार नहीं है। व्यक्तिशः रोगियों को इनसे लाभ जरूर मिलता है, लेकिन समाज में रोग का उन्मूलन करने का पूरा काम ये नहीं कर पाते। सांसर्गिक रोगी कुष्ठ-धाम में जब पहुँचता है, उसके पहले ही वह कई को रोगी बना चुकता है। उसके बाद भी जब जाहिर हो जाय, तब भी यह कठिन होता है कि वह घर छोड़े, जमीन और धंधा छोड़े। फिर वह अपने आदमियों की व्यवस्था भी क्या करे? मान लीजिये, किसी गाँव में २० सांसर्गिक रोगी हैं। यदि १० रोगी आकर रहें भी, तो बाकी १० तो रोग-प्रसार करने के लिए वहाँ पड़े ही हैं।

इसके अलावा कुष्ठ-धाम जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे वैसे अधिक दूर-दूर से अधिक रोगी आने लगते हैं, जिससे दो नुकसान होते हैं :

(१) संस्था इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी ठीक व्यवस्था रखना कठिन हो जाता है। सांसर्गिक रोगियों के संसर्ग का क्षेत्र बढ़ जाता है। आस-पास का क्षेत्र खतरे में पड़ जाता है। हजार, डेढ़ हजार रोगी एक साथ रहें, तो संसर्ग का खतरा निश्चित बढ़ता है।

(२) दूर-दूर के सांसर्गिक रोगी सार्वजनिक सवारियों में बैठकर आते हैं। जगह-जगह ठहरते भी हैं। अपने क्षेत्र के लोग तो उन्हें कुष्ठ-रोगी कहकर जानते हैं, पर दूसरे क्षेत्र का कोई नहीं जान पाता। इसलिए आजादी के साथ मिलना-जुलना आदि व्यवहार होते हैं। कभी-कभी तो इस प्रकार की संस्था के आस-

पास भी कुष्ठ-रोगी बसना शुरू कर देते हैं, ताकि आजादी भी रहे और उपचार लेना भी आसान हो।

सारांश, 'सेन्ट्रीपिटल' कुष्ठ-धाम के तीन दोष हैं : (१) अत्यधिक विस्तार, (२) आवश्यक व्यवस्था तथा नियंत्रण का अभाव और (३) अनियंत्रित और अनिश्चित क्षेत्र, जिसमें सब जगह से रोगी आते-जाते हैं।

सेंट्री-फुगल : यह ऐसा प्रकार है, जिसके मध्य गाड़ी के चक्के की तरह कुष्ठ-धाम होता है। इसका क्षेत्र सीमित और निश्चित रहता है। इसका काम क्षेत्र में योजनाबद्ध बिखरा होता है। कुष्ठ-धाम में अस्पताल की व्यवस्था होती है और अलग्नीकरण की संख्या सीमित रहती है। क्षेत्र में छोटे-छोटे केन्द्र होते हैं और उन्हें मदद पहुँचाना कुष्ठ-धाम का काम होता है। हर केन्द्र १०-२० गाँवों की सेवा करता है और वहीं की मदद से बनाया जाता है। जमीन, मकान आदि की व्यवस्था गाँववाले करते हैं। दवा, सलाह और सेवा की व्यवस्था कुष्ठ-धाम की ओर से होती है। इन केन्द्रों पर निश्चित क्षेत्रों के रोगियों के उपचार की व्यवस्था होती है और कुछ सांसर्गिक रोगियों को भी रखने की व्यवस्था रहती है। रोगियों के लिए भोजन की व्यवस्था गाँववाले, रोगी के घर-वाले या रिश्तेदार करते हैं। कुष्ठ-धाम की ओर से सर्वे, उपचार, और शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। स्वस्थ बच्चों की देखभाल की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। कुष्ठ-रोगियों के बच्चों को उनके रिश्तेदार संभाल लेते हैं। कुष्ठ-सेवक उसी क्षेत्र में रहते हैं, ताकि अलग्नीकरण और उपचार की व्यवस्था ठीक चल सके।

प्रश्न यह है कि ये सब कौन करे ? क्या समाज स्वयं नहीं कर सकता ? क्या कानून-कायदों से इसे कार्यान्वित किया जा

सकता है ? सबसे अच्छा तो यही होगा कि जनता में जो समझ-दार हैं, वे इस काम में लग जायँ और जनता का मार्ग-दर्शन करें। बाहर से भी मदद मिलेगी ही। जो दुःखी है, वह खुद नहीं उठेगा, तो दूसरा कितना उठायेगा ? हमारे गाँव की समस्या खुद हमें ही हल करनी होगी।

कुष्ठाश्रम

'कुष्ठाश्रम' नाम ही उचित : 'कुष्ठाश्रम' कुष्ठ + आश्रम दो शब्दों से बनता है, जो संस्कृत का शब्द है। जिसमें कुष्ठ-रोग का उपचार और निर्मूलन की व्यवस्था हो, वह 'कुष्ठाश्रम' है, यह पीछे के विवरण से स्पष्ट ही है। अब इसके नाम के और भी पर्याय हो सकते हैं। जैसे : कुष्ठ-कॉलोनी, असाइलम, होम, सेटिलमेंट, अस्पताल और सेनेटोरियम। सबसे उत्तम 'कुष्ठ-सेनेटोरियम' बैठता है, लेकिन टी० बी० के साथ उसका प्रयोग होने से प्रायः उसीका पर्याय-सा बन गया है। अतएव 'कुष्ठाश्रम' नाम ही ठीक जँचता है।

भारत के प्रमुख कुष्ठाश्रम : यों तो भारत में अनेक कुष्ठा-श्रम हैं, फिर भी नीचे प्रदेश वार प्रमुख कुष्ठाश्रमों के स्थानों का उल्लेख जानकारी के लिए संकलित किया जा रहा है :

आसाम : सिलहट, तुरा, कांग पोकपी, गोहाटी, जोरहाट, कोहिमा और मणिपुर।

बंगाल : बाँकुरा, रानीगंज, कलकत्ता और पुरुलिया (१. मिशन टु लेपर्स, २. कुष्ठ-निवारण मंडल)।

बिहार : भागलपुर, देवघर, मुजफ्फरपुर, कोआकोल, गया, मैरवां (सारन), राँची (ब्रांम्बे), जमशेदपुर और संथाल-परगना।

उड़ीसा : पुरी, कटक और मयूरभंज।

उत्तर प्रदेश : अल्मोड़ा, फैजाबाद, आगरा, मेरठ, बनारस, गोरखपुर, लखनऊ, नैनी, रुड़की, देहरादून, कालसी, ऋषिकेश, कानपुर और मुरादाबाद।

पंजाब : अम्बाला और तरनतारन।

राजस्थान : जोधपुर।

मध्यप्रदेश : भोपाल, चांपा, शांतिपुर, धमतरी, कोटारो, राजनांदगाँव और रायपुर।

बम्बई : वर्धा, वरोरा, अमरावती, नासिक, बेलगाँव, एलिचपुर, झरगाँव, सोलापुर, रत्नागिरी बम्बई, माटुंगा, मिरज और पोलाटपुर।

आंध्र : डिचपल्ली, हैदराबाद और विजयनगरम्।

मद्रास : चिंगलपेट और रामचन्द्रपुरम्।

मैसूर : बंगलोर और मैसूर।

केरल : त्रिवांकुर, अलप्पै, नेय्यूर और ओडूर।

गांधी-स्मारक-निधि के १५ कंट्रोल यूनिट क्लिनिक हैं, जो निम्नलिखित हैं : (१) मरारीकुलम् (केरल), (२) खामगाँव, (३) बारडोली, (४) जामनेर, (५) शेंदुराजना-बाजार, (६) सेवाग्राम, (७) चिलकलापल्ली (आंध्र), (८) परला की भेदी (उड़ीसा), (९) कुण्डहित (बिहार), (१०) श्रीनिकेतन (बंगाल), (११) गोरखपुर, (१२) ऋषिकेश, (१३) जॉनसर बावर (उत्तर प्रदेश), (१४) रवाई (पंजाब) और (१५) मदुराई (मद्रास)।

इनके अतिरिक्त सरकारी जिला-बोर्डों की भी छोटी-मोटी संस्थाएँ कुष्ठ-कार्य कर रही हैं। ...

कुष्ठ-संस्थाओं के उद्देश्य और कार्य : २० :

सभी कुष्ठ-पीड़ित व्यक्तियों के उपचार की व्यवस्था और सांसर्गिक प्रकार के रोगियों को अलग करने की व्यवस्था ही कुष्ठ-संस्थाओं का उद्देश्य और कार्य है। कुष्ठाश्रम में कुष्ठ-रोगी उपचार भी लेते हैं और जीवन के लिए उपयोगी उद्योग-धंधे भी सीखते तथा करते हैं। खेती, बढ़ईगिरी, चर्खा, बुनाई, दस्तकारी आदि काम रोगी करते हैं। कहीं-कहीं तो मकान बनाने का काम भी रोगियों द्वारा ही कराने की व्यवस्था है। कुष्ठ-आश्रमों का स्थान और स्वरूप वैज्ञानिक शोधों के अनुरूप बनता रहा है। सर्वप्रथम ये एक अनाथालय जैसे थे, जहाँ कुष्ठ-पीड़ित आकर रहते और नैराश्यपूर्ण तथा हीन जिन्दगी गुजारते थे। अच्छे होकर घर वापस जाने की कोई आशा नहीं थी। जैसे-जैसे उपचार-आश्रम होते गये, इनकी शक्ल भी बदलती गयी। आज 'सल्फोन' के युग में तो इन्हें अस्पतालों का ही आकार दे देना चाहिए। वहाँ कुष्ठ-प्रतिक्रिया, ज्वर या अन्य कोई उपद्रव के उपचार के लिए कुष्ठ-पीड़ित एक दो महीने आकर रहें और दुरुस्त होकर घर वापस जायँ। अलग्नीकरण-केन्द्र छोटे पैमाने पर गाँवों में ही खोले जायँ, जहाँ मामूली औसत दर्जे के कच्चे मकान गाँववालों और रोगियों की मदद से बना दिये जायँ। खेती के लिए जमीन माँग ली जाय। चर्खा, बुनाई, बढ़ई-गिरी आदि के साधन उपलब्ध कर दिये जायँ। कुष्ठ-रोगियों के जीवन में उत्साह भरने की व्यवस्था की जाय। इन्हें स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी जाय। वैसी ट्रेनिंग की व्यवस्था भी इन

ग्रामीण केन्द्रों पर हो। ऐसे केन्द्रों की रचना में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाय :

(१) क्षेत्र का सर्वेक्षण कर लिया जाय।

(२) स्थान का चुनाव स्वास्थ्यवर्धक हो। मलेरिया, फाइ-लेरिया, आदि न हों। खेती के लिए पर्याप्त और अच्छी जमीन हो। २५ रोगियों के लिए १२ एकड़ जमीन पर्याप्त है।

(३) पानी की व्यवस्था हो।

(४) स्थान एकांत में हो। और

(५) बाह्य-जगत् से संबंध रखने के लिए सड़क वगैरह नजदीक हो।

भवन-निर्माण और व्यवस्था : स्थानिक सामान जैसा मिलता हो, उसके अनुसार मकान बनाये जायँ। किसी स्थान की मिट्टी मकान बनाने लायक अच्छी होती है। दीवार मिट्टी की बनाकर ऊपर खपरा छाकर काम चलायें। उपचार के लिए चूने पर ईंट की चुनाई करके पक्का मकान बनाया जाय। ५-१० मील के क्षेत्र में जो सामान मिल सके, उसीका प्रयोग करना उचित है। कहीं-कहीं बाँस के भी मकान बनाते हैं। भवन-निर्माण के लिए साधा-रण तौर पर इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए :

(१) रोगियों का स्वास्थ्य और सुविधा। (२) कुष्ठ-कार्य-कर्ताओं की सुविधाएँ और व्यवस्था। (३) उपचार की व्यवस्था और सुविधा। (४) सामूहिक कार्यों की सुविधाएँ। और (५) आर्थिक परिस्थिति के अनुसार निर्माण।

इनके अतिरिक्त कार्यकर्ता और रोगियों के मकानों के बीच पर्याप्त अन्तर रहे। रोगियों द्वारा काम में लाये गये मकानों का उपयोग स्वस्थ लोग न करें। स्वच्छ वायु, स्वच्छ जल और स्वच्छ स्थान

स्वास्थ्यप्रद होता है। मच्छरों को मारने के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग करें। पीने के कुएँ में ब्लिचिंग पाउडर वगैरह डालें। पाखाना, पेशाब की व्यवस्था उत्तम गढ़े खोद कर की जाय। मक्खियों से खाने की चीजें बचाने की व्यवस्था हो। मवेशियों के लिए अलग घर बनाये जायँ। सामान और रहने के घर अलग-अलग हों। अस्पताल के मकान सबके बीच रहें। उद्योगशाला भी निश्चित हो।

कार्यकर्ताओं के लिए सावधानियाँ

प्रायः बाल्यावस्था में ही यह रोग लगता है। फिर भी जो कार्यकर्ता हैं, उन्हें सावधानी बरतनी ही चाहिए। कुष्ठ-कार्य करते-करते यदि यह रोग लग जाय, तो परमेश्वर का प्रसाद ही समझकर उसे ग्रहण करना चाहिए। लेकिन समाज की दृष्टि से वह एक बहुत बड़ी कुसेवा होगी। इस काम के लिए यों ही कम लोग आते हैं, फिर ऐसे उदाहरण देखकर तो और भी नहीं आयेंगे। इसलिए :

(१) कार्यकर्ता अपना स्वास्थ्य उत्तम रखें। मलेरिया, डिसेंटरी आदि से बचें। भोजन आदि अच्छा स्वास्थ्यप्रद हो। दूध, घी, शाक, फल आदि की भी व्यवस्था हो। मच्छरदानी का प्रयोग करें।

(२) कार्यकर्ताओं के रहने के घर स्वच्छ और सुविधा-जनक हों।

(३) तीव्र-कुष्ठ के रोगियों के साथ सावधानी से बरताव करें। उन्हें देखने के बाद साबुन, लायसोल आदि का प्रयोग करें। फिर भी कुष्ठ-जंतु किससे मरते हैं, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसलिए दवाखाने से आकर स्नान करना, कपड़े बदल

डालना और जूते पहन कर दवाखाने में जाना चाहिए। इतने से भी काम चल जायगा। कुछ लोग हाथों में दस्ताना, सिर पर टोपी मुँह पर 'मास्क' वगैरह रखते हैं। लेकिन उनकी इतनी आवश्यकता नहीं है।

(४) कुष्ठ-रोगियों के द्वारा इस्तेमाल की गयी चीजों का प्रयोग न करें।

(५) रोगी से वातें करते समय भी उसके मुँह से थूँक अपने शरीर पर न पड़े।

(६) मक्खियाँ, मच्छर, खटमल आदि से तो वचना ही चाहिए।

रोगियों की सामाजिक और सार्वजनिक सेवा

कुष्ठ-केन्द्र में रोगियों की सामाजिक और सार्वजनिक सेवा के कामों में उनके आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों का वैयक्तिक और सामाजिक रूप में विकास किया जाता है। रोगी न केवल अपने लिए ही वहाँ आता है, वल्कि उसके दूसरों को रोग न लगे, यह भाव भी उसमें निहित है। इन्हें चार भागों में वाँट सकते हैं:

(१) साक्षरता : वहुत से रोगी अपढ़ होते हैं। उनके तरह-तरह के गलत खयाल वने होते हैं। यों भी कुष्ठ-रोग में वहम और अज्ञान वहुत होता ही है। इसलिए उनको शिक्षित या साक्षर वनाने की जवावदारी कुष्ठ-केन्द्र की है।

(२) औद्योगिक शिक्षण : अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ उन्हें औद्योगिक शिक्षण भी दिया जाय। जैसे : दर्जी का काम, वढई-गिरी, चमड़े का काम, टोकरी वनाने का का काम, वागवानी,

कताई, बुनाई आदि। साबुन बनाना भी उन्हें सिखाया जा सकता है। वे मकान और मिट्टी के बर्तन भी बना सकते हैं। कुछ लोगों को अस्पताल के काम में लगाया जा सकता है। भाई-बहनें दोनों मिल कर नर्स, कम्पाउण्डर का काम कर सकती हैं। व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational Therapy) से बहुत-से लाभ हैं। इससे आत्माभिमान पनपता है, मन प्रसन्न रहता है, शरीर-स्वास्थ्य अच्छा रहता है और हाथ-पाँव की अंगुलियाँ टेढ़ी नहीं हो पातीं।

(३) **मनोरंजन :** उन्हें सामूहिक खेल, पुस्तक, रेडियो वगैरह देने चाहिए।

(४) **आध्यात्मिक विकास :** उनसे सामूहिक प्रार्थना आदि करानी चाहिए। कुष्ठ-रोगी समाज और संबंधियों से इतना उपेक्षित रहता है कि उसके लिए नये मूल्यों की खोज आवश्यक हो जाती है, जिनके आधार पर वह प्रसन्न और आशापूर्ण बन सके। यह दुःख उसके लिए वैयक्तिक साधना का एक सुअवसर बन जाना चाहिए। यदि महारोगी 'महायोगी' हुआ, तो वह उसका खरा विकास होगा। इसमें प्रेरणा कार्यकर्ता की रहेगी। हर काम में अध्यात्म-वृत्ति रहने पर सही माने में आध्यात्मिक विकास होता है। अतएव प्रार्थना एवं गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा सत्पुरुषों के व्याख्यान आदि का भी आयोजन करना चाहिए।

तीन अन्य आवश्यक कार्य : क्षेत्र में कुष्ठ-कार्य से संबद्ध तीन काम और करने पड़ते हैं : (१) कुष्ठ-रोगियों के छोटे बच्चों को बचाना, (२) कुष्ठ-रोगियों के घरवालों की आर्थिक, सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान देना और (३) दुरुस्त हुए रोगियों को

पुनः समाज में बसाना और यदि वे कुपंग हों, तो उनकी जीविका की व्यवस्था करना।

(१) बच्चों का प्रश्न : कुष्ठ-रोगियों के बच्चों का प्रश्न बड़ा जटिल पर साथ ही कुष्ठ-नियंत्रण कार्य में अत्यन्त महत्त्व का है, क्योंकि बच्चों को यह रोग जल्दी लगता है। लेकिन यदि बचपन में ही रोगी माँ-बाप से उन्हें अलग कर दें, तो वे बच सकते हैं। सांसर्गिक माँ के बच्चे को तुरन्त उससे अलग करने की व्यवस्था होनी चाहिए। सौम्य प्रकार के रोग से ग्रस्त माँ को यदि प्रतिक्रिया न हो, जैसा कि प्रसूति के बाद प्रायः हो जाता है, तो तीन-चार महीनों के बाद भी बच्चे को अलग कर सकते हैं।

(रोगी माँ-बाप के साथ नव-शिशु)

अब इन बच्चों को कैसे अलग किया जाय और कहाँ, किसके सुपुर्द किया जाय, यह प्रश्न बड़ा जटिल है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि यदि बच्चों को बचा लिया जाय, तो दो पीढ़ियों में ही

रोग पर नियंत्रण पाया जा सकता है। ब्राजिल में तो यह व्यवस्था बड़ी ही उत्तम है। वहाँ रक्षा-गृह बनाये गये हैं, जहाँ बच्चों को रखा जाता है।

पूर्वी नाइजेरिया में भी बच्चों की अच्छी व्यवस्था है। पहले तो यही कोशिश की जाती है कि उनके रिश्तेदार उन्हें पालें। वह न हो सकने पर कुष्ठाश्रम के पास ही 'शिशु-संगोपन गृह' बनाये जाते हैं, जहाँ दुरुस्त रोगी बहनें या कम सांसर्गिक बहनें उन्हें सँभालती हैं। माँ का दूध सावधानी से पिलाने की व्यवस्था की जाती है।

भारत में इस ओर 'मिशन टु लेपर्स' ने कुछ व्यवस्था की है, लेकिन वह बहुत ही अपर्याप्त है। जब स्वयं कुष्ठ-रोगियों की व्यवस्था करना कठिन है, तो उनके बच्चों की इतनी बड़ी समस्या हाथ में लेना और भी कठिन है। कुछ भी हो, बच्चों की ओर ध्यान दिये बिना कुष्ठ-निर्मूलन असंभव है। बीच-बीच में बच्चों की भी परीक्षा करते रहना चाहिए।

(२) आर्थिक-सामाजिक समस्याएँ : कुष्ठ-रोगी अक्सर अपने घर का कमानेवाला व्यक्ति होता है, क्योंकि गरीब-वर्ग में सभी सदस्य कमाते हैं। स्त्री, पुरुष दोनों मिलकर घर का काम चलाते हैं। किसीको भी कुष्ठ-रोग हुआ, तो परिवार में आर्थिक कठिनाई होती है। यदि वह किसान हो, तो उसके पीछे खेत कौन देखेगा, यह प्रश्न खड़ा होता है। उसके घर, मवेशी वगैरह की देखभाल का प्रश्न भी खड़ा हो जाता है। इसके लिए सामाजिक सेवकों की आवश्यकता है, जो गाँवों में सहायता पहुँचा सकें। विवाह-शादी आदि सामाजिक प्रश्न भी आते हैं। यह भी एक बड़ा सवाल है। कुष्ठ-रोगी के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा

भी सवाल खड़ा होता है। इन सब बातों की ओर समाज-सेवकों को ध्यान देना होगा।

(३) **पुनर्वास की व्यवस्था :** यह प्रश्न भी काफी कठिन है। जो लोग ठीक हो जाते हैं, उन्हें समाज स्वीकार नहीं करता। इस बारे में लोगों को समझाना होगा। घरवाले भी नहीं समझते। पति या पत्नी उसे पुनः घर में लेने को तैयार नहीं होते। काम-धंधा मिलना भी कठिन हो जाता है। यदि अपंगता हो, तब तो और भी मुश्किल होती है। वैसे लोगों की अलग औद्योगिक संस्था स्थापित करने की जरूरत है ही, जहाँ उनके अनुरूप उन्हें रोजी कमाने का धंधा दिया जा सके। समाज में जैसे-जैसे कुष्ठसंबंधी ज्ञान फैलेगा, वैसे-ही-वैसे पुनर्वास का काम आसान होगा। तब कुष्ठ-रोग हमेशा के लिए अपना अमिट असर न छोड़ सकेगा। तभी हमारा यह उद्घोष अर्थपूर्ण होगा :

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

— × —

परिशिष्ट : १

महारोगी-सेवा

(श्री विनोबा)

[गत ३० अक्तूबर १९४७ को वर्धा में अखिल भारतीय कुष्ठ-कार्यकर्ता का सम्मेलन हुआ। स्वयं उपस्थित होना संभव न होने से श्री विनोबा ने उक्त सम्मेलन के लिए एक लिखित भाषण भेजा था, जो वहाँ पढ़ सुनाया गया। प्रस्तुत पुस्तक का पूरक होने से उसे यहाँ संकलित किया जा रहा है। —लेखक]

महारोग-निवारण के विषय में कुछ कहने का काम उसके विशेषज्ञों का ही है और मैं तो उस विषय का विशेषज्ञ हूँ नहीं। यह भी सही है कि इसके विशेषज्ञ के नाते लोग मुझसे कुछ सुनने की अपेक्षा भी न रखते होंगे। मैं तो इसी नाते कुछ कहूँगा कि इस काम के प्रति प्रेम रखता हूँ और इससे संबंध रखनेवाला एक हितैषी हूँ।

समग्र ग्रामसेवा की सन्तान

आप जानते ही हैं कि यहाँ बारह वर्षों से महारोगियों की सेवा का काम करनेवाली एक छोटी-सी संस्था चल रही है। यह काम शुरू करने में हम लोगों के मन में कोई भी पूर्व-योजना या कल्पना न थी। सन् १९३२ से दो-तीन साल तक हम लोग ग्राम-सेवा के निमित्त गाँव-गाँव घूमे। उसके बाद कुछ गाँवों को चुनकर वहाँ अपनी कल्पना के अनुसार खादी, हरिजन-सेवा आदि लोक-सेवा के काम शुरू किये। गाँव-गाँव घूमते समय गाँवों

की आवश्यकताओं का निरीक्षण और उन पर उपाय-योजना के विपय में नियमित रूप से चर्चा चलती रही। इसकी कल्पना ही न थी कि इधर इस महारोग का कितना भयानक प्रसार है। किन्तु इस निरीक्षण में वह भलीभाँति ध्यान में आ गया। सरकारी आँकड़े में प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी हमें यही दीख पड़ा कि उन आँकड़ों को चार से गुना किये विना वस्तुस्थिति का दर्शन नहीं हो सकता। फिर क्या किया जाय, यह प्रश्न उठा। तय हुआ कि यह काम विना हाथ में लिये चारा ही नहीं। मेरे मित्र मनोहर-जी की तड़प से कार्यारंभ हुआ। तड़प रहते हुए भी ज्ञान नहीं था और विना ज्ञान के काम कैसे चले? तड़प ने ज्ञान पाने का रास्ता भी दिखला दिया। उस समय गांधीजी ने विधायक कार्य-क्रमों में महारोगी-सेवा का परिगणन नहीं किया था। फिर भी समग्र ग्राम-सेवा की कल्पना आँखों के समक्ष होने के कारण उसमें से वह सहज ही प्राप्त हो गयी।

यहाँ के काम में वैसी कोई विशेषता नहीं। नयी खोज नहीं और न कार्य-विस्तार ही है। फिर भी मेरी दृष्टि में यहाँ के काम की विशेषता यही कही जा सकती है कि यह समग्र ग्राम-सेवा की सन्तान है। ईसाई मिशनरियों के सिवा बाहरी अन्य लोगों द्वारा संचालित इस तरह की संस्थाएँ हिन्दुस्तान में बहुत ही कम हैं। इस कारण इस संस्था को मुफ्त में जो महत्त्व मिल गया, उसे भी विशेपता में गिनना चाहें, तो गिन सकते हैं!

महारोग की प्राचीनता

यह रोग सारी दुनिया में एक समान नहीं। कहीं बिलकुल नहीं है, तो कहीं अत्यधिक है। इसी दूसरे विभाग में हमारा देश गिना जाता है। यहाँ यह अति प्राचीन काल से चला आ रहा

है। वेद में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। वैदिक ऋषि भगवान् से कहता है : 'भगवन्! अपना रोना आपके सामने रो रहा हूँ। मेरे लिए दौड़े आओ। जैसे ब्रह्मवादिनी घोषा अपने कुष्ठ-रोग के निवारणार्थ तेरी गुहार करती रही और तू उसे मिल-गया, वैसे ही मुझ पर भी प्रसन्न हो जाओ।' पता नहीं, ऋषि को किस रोग की पीड़ा रही। कदाचित् उसका वह दुःख आध्यात्मिक हो—मनोविकाररूप महारोग के निवारणार्थ वह छटपटा रहा हो। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मवादिनी घोषा का कुष्ठ श्वेत-कुष्ठ था या महारोग? शब्द से तो श्वेत-कुष्ठ का ही अंदाज लगता है, पर भाव महाकुष्ट से ज्यादा मिलता है। जो कुछ भी हो, यह निःसन्देह है कि हिन्दुस्तान में यह रोग अति प्राचीन है। वेद लिखता है कि ब्रह्मवादिनी घोषा का वह रोग ईश्वर-भक्ति से नष्ट हो गया। यही श्रद्धा हमारे यहाँ के भावुक समाज में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही है।

महारोग के कारण

इस महारोग पर 'छाल-मोगरा' का उपयोग यहाँवाले पहले से ही जानते हैं और रोगी को समाज से दूर रखने की कल्पना भी चली आ रही है। फिर भी दुर्भाग्य से कहना पड़ता है कि व्यवहार में इस कल्पना का विनियोग बहिष्कार और तिरस्कार से आगे नहीं बढ़ पाया। यहाँ की अस्पृश्यता की जड़ में जो कुछ भी ऐतिहासिक कारण हों, उनमें महारोगी को दूर रखने की कल्पना का भी समावेश होगा, यह मानने की पूरी गुंजाइश है। महारोग के कारणों की मीमांसा करना मेरा काम नहीं और न उसकी कुछ जरूरत ही है। अनेक विशेषज्ञ यह कर चुके हैं। सारांश यही कि इसका कोई निश्चित कारण नहीं कहा जा सकता। हमारे यहाँ

के कुछ भोले-भाले लोग, जिनमें मैं अपने को भी गिनता हूँ, पूर्व-जन्मों के दोषों को भी इसका कारण बतलाते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इसका इतना ही मतलब होता है कि 'कोई कारण तो होना ही चाहिए।' पर वह कौन-सा, यह निश्चित नहीं जा सकता। यद्यपि व्यक्तिगत रोग का विशेष कारण व्यक्तिगत ही हुआ करता है, फिर भी व्यक्ति को सामाजिक कारणों को भी भुगतना पड़ता है। शिथिल नीति, अस्वच्छ रहन-सहन, पोषण-हीन आहार आदि सर्वसाधारण कारण भी अपना काम करते ही रहते हैं। यही कारण है कि महारोग जैसे 'गूढ़' रोग के निवारण के कार्यक्रम में सर्वसाधारण सामाजिक कारण मिटाने का कार्यक्रम भी अन्तर्भूत समझ लेना चाहिए।

ईसाई-धर्म की देन

यह सच है कि महारोग हिन्दुस्तान की मालकियत का है, फिर भी यह स्पष्ट है कि इसके निवारण में भारतीयों ने विशेष यत्न नहीं किया। हाँ, ईसाई मिशनरियों ने इस बारे में बड़ी लगन से काम किया है। अधिक क्या, उनके द्वारा पढ़ाया हुआ सेवा का पाठ हिन्दुस्तान को ईसाई-धर्म की बहुत बड़ी देन है। उसे हमें साभार स्वीकार करना और कृतज्ञतापूर्वक उसे सीखना भी चाहिए। हमने 'भूत-दया' जैसा विशाल शब्द निकाला और जीव-हिंसानिषेध, निर्मांसाहार आदि शब्दों के प्रयोग किये। लेकिन यह भूल गये कि 'भूत-दया' में मानव-सेवा मान ही ली गयी है। 'भूत-दया' शब्द बड़ा ही व्यापक बन गया और उसके कारण हमें निकट के कर्तव्य का भान ही न रह गया। इसके विपरीत 'ह्यूमिनिटी' या 'मानव-सेवा' जैसे सीमित शब्दों का उच्चारण करने से उस शब्द का चिन्तन करनेवालों की सहज ही मानव-सेवा में रुचि हो गयी और उन्हें निर्मांसाहार आदि के प्रयोग विलम्ब से सूझ

पड़े। यह शब्द की ही अपूर्व महिमा है। शब्द-शक्ति सदैव सीमित हुआ करती है। इसलिए शब्द बदलने की जरूरत नहीं। हर-एक व्यक्ति अपने-अपने शब्द को दृढ़ रखे और उससे छूटे अर्थ को अपने आचरण द्वारा उसमें भर दे।

हमारी उपेक्षा-बुद्धि

अब तक हमारे कार्यकर्ताओं की अधिकतर शक्ति यहाँ से विदेशी सत्ता निकाल बाहर करने में ही व्यय हुई। एतदर्थ हमारे नेताओं ने अहिंसक साधनों के उपयोग की नीति बरती। फल-स्वरूप देश में थोड़ा-बहुत रचनात्मक कार्य भी किया गया। फिर भी कार्यकर्ताओं की दृष्टि राजनीतिक ही होने के कारण सारा रचनात्मक कार्य किसी तरह, आधे दिल से हुआ। उससे जो स्वराज्य हाथ लगा, आज उसकी दशा हम देख ही रहे हैं। यदि पूर्ण श्रद्धा और एकाग्र हृदय से रचनात्मक कार्य किया जाता, तो आज के स्वराज्य का तेज कुछ और ही होता। फिर भी जो कुछ हुआ, उसके बारे में किसीको दोष देने की जरूरत नहीं। निषेधक ध्येय सामने रखकर किया जानेवाला विधायक कार्य जैसा हो सकता था, वैसा ही हुआ। कार्यकर्ताओं ने रचनात्मक कामों में भी उन्हीं पर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया, जो सरकार पर दबाव डालने में काम आते या जनशक्ति संघटित करने में मदद पहुँचाते थे। वैसी स्थिति में महारोगी की सेवा जैसे निरुपद्रवी या मानव-सेवा के काम की ओर किसका ध्यान जाता ?

सेवा के लिए तैयार हो जाइये !

पर अब यह स्थिति बदलनी होगी। अब यहाँ से विदेशी सत्ता हट चुकी। निषेधक ध्येय से कुछ भी हाथ न लगेगा। अब हमें स्वराज्य की इमारत नीचे से ऊपर तक खड़ी करनी है। हमें

अपना राज्य स्वराज्य, राम-राज्य या ईश्वर का राज्य बनाना है। यदि स्वराज्य का अर्थ इतना ही रहा कि 'विदेशियों की सत्ता मिटकर हममें से मुट्ठी भर लोगों की सत्ता', तो वह 'रावण-राज्य' या 'शैतान का राज्य' भी हो सकता है। हम वैसा स्वराज्य न चाहते हों, तो भविष्य में हमें दीन-दुखियों, उपेक्षितों, परित्यक्तों और तिरस्कृतों की सेवा के लिए कमर कसनी चाहिए।

दया-दक्ष कर्म-वीरों की आवश्यकता

कोई हलके विचार करनेवाले कहते हैं: 'अब हमारी सरकार हो गयी, तो ये बातें वही देख लेगी।' किन्तु इसके जैसा मूर्खतापूर्ण विचार कदाचित् ही कोई हो सकता है। महारोगी-सेवा जैसा काम निष्काम सेवकों के विस्तार के सिवा सरकार के हाथों कभी संभव ही नहीं। हाँ, सरकार थोड़ी-बहुत मदद कर सकती है और उसे करना भी चाहिए। लेकिन मैं उस मदद को इस काम में नगण्य समझता हूँ। जन-सेवा की भावना से भरे कर्म-वीरों का यह काम है। ऐसे दया-दक्ष कर्म-वीर इस समय बहुत बड़े पैमाने पर आगे आने चाहिए। हमारा यह सम्मेलन इस काम में उपयोगी पड़े, तभी वह सफल होगा। ऐसे सेवक सामने आने पर सरकार की ओर से भी मिल सकनेवाली मदद मिलेगी और जनता की दान-वृत्ति का प्रभाव भी अभीष्ट दिशा में मोड़ते बनेगा।

यह भी देखना होगा कि हम इस दिशा में सरकार की ओर से कौन-सी आशा रखें? हमारी सेवा सफल होने के लिए कुछ सामाजिक नियंत्रण और नियमों की आवश्यकता होगी। मैं सरकार की ओर से उतनी ही आशा रखूँगा। बाकी आर्थिक सहायता जनता से ही चाहूँगा। हम लोगों में दान-वृत्ति की कमी है, यह बात नहीं। लेकिन वह काफी मूढ़ है। 'दान' का

अर्थ यह नहीं कि कहीं, कैसे भी कुछ फेंक दिया जाय। यह बात लोगों के ध्यान में ला देनी होगी कि जिसका सत्कार्य में विनियोग हो, वही दान होता है।

मैं इसे कोई कठिन काम नहीं मानता। मुख्य बात यही है कि सेवक आगे आयें। महारोगी-सेवा के विषय में कुछ भ्रमों का निरास होना भी आवश्यक है। लोग यह समझते हैं कि महारोगी की सेवा में लगने का अर्थ है, अपने ऊपर बहुत बड़ा खतरा मोल लेना। पर यह समझना उतना सच नहीं है, यह बात उनके ध्यान में ला देनी चाहिए। थोड़ा-बहुत खतरा अवश्य है। लेकिन यदि कोई यह शपथ ले ले कि 'कोई भी खतरा न उठाऊँगा', तो उसके हाथों दुनिया में कुछ भी पुरुषार्थ न हो सकेगा। खतरा तो थोड़ा-बहुत उठाना ही पड़ता है। फिर भी शास्त्रीय पद्धति से सेवा करनेवाले के लिए डरने की कोई बात नहीं, इस ज्ञान का प्रचार होना चाहिए।

सेवक का रोग ईश्वरीय प्रसाद

फिर भी कार्यकर्ता को सदैव ईश्वर की शरण रहना चाहिए। आवश्यक सतर्कता बरतने के बाद भी यदि संसर्ग से रोग लग ही जाय, तो उसकी परवाह न कर उसे ईश्वर-प्रसाद मानने तक की मानसिक स्थिति बन जानी चाहिए। वैसी मानसिक स्थिति रखनेवाले सेवक के लिए रोग भी लाभप्रद हो सकता है। अपने कुष्ठ-निवास के रोगियों के सामने एक बार बोलने का मौका मिलने पर, मैंने उन्हें यह सान्त्वना देने की हिम्मत की थी कि 'भाइयो! रोग तो आपको हो ही गया। प्रारब्ध टलता नहीं। लेकिन उसे आप ईश्वर-प्रसाद समझ लें, तो आपका रोग ही आपका तारक बन जायगा। ज्ञानियों ने हमें सिखलाया है कि

हम देह से अलग हैं—आत्मस्वरूप हैं। इस बात का साक्षात्कार करने के लिए यह रोग सहायक हो सकता है। इसी दृष्टि से चिन्तन करके देखिये।' मेरा भाषण सुननेवाले रोगियों में से एक ने कुछ दिनों बाद मुझे सूचना दी कि 'आपके सुझाव के अनुसार मैं चिन्तन किया करता हूँ और उससे मुझे सान्त्वना भी मिली। जो सान्त्वना एक साधारण रोगी को मिल सकती है, क्या वह निष्काम सेवक को रोग लग जाने पर नहीं मिल सकती?

रुग्ण-बस्तियों का आदर्श

महारोगियों की सेवा दो प्रकार से करनी पड़ती है: (१) जगह-जगह उपचार-केन्द्र खोलकर और (२) कुछ स्थानों पर रुग्ण-बस्तियाँ चलाकर। दोनों में अधिक आवश्यकता किसकी है, इन सबकी चर्चा में मैं नहीं पड़ता। फिर भी रुग्ण-बस्तियाँ चलाने के बारे में एक विचार अवश्य सुझाना चाहता हूँ। वह भी कोई नया है, ऐसी बात नहीं। फिर भी मुझे जिस तरह सूझ रहा है, उसी तरह थोड़े में कहे देता हूँ। रुग्ण-बस्तियों के रोगियों को यह दीन-वाणी कभी न बोलनी चाहिए कि 'हम समाज की दया के पात्र हैं।' वे दया के पात्र तो हैं, पर वह दया हमारी नहीं, ईश्वर की है और ईश्वर की दया के पात्र तो हम सभी हैं। अपने रोगियों की सेवा करनेवाले हम किसी दूसरे पर उपकार नहीं करते, वरन खुद अपने ऊपर ही उपकार कर रहे हैं, ऐसी भावना होनी चाहिए। साथ ही वातावरण भी ऐसा रहे, जिसमें रोगी को ऐसी श्रद्धा मालूम पड़े कि हमारे लिए भी कुछ पुरुषार्थ है। सारांश, रुग्ण-बस्ती में जितना बन सके, कर्मयोग, स्वावलंबन का यत्न, परस्पर सहकार्य, जप-ध्यानादि की प्रवृत्ति— इन सबका वातावरण निर्माण करना चाहिए। ...

परिशिष्ट : २

तीन सुझाव

(श्री जयप्रकाश नारायण)

(भैरवाँ कुष्ठाश्रम में किये गये भाषण से)

कुष्ठ-सेवा-केन्द्र के भवन का उद्‌घाटन मेरे हाथों से कराया गया—यह एक बहुत शुभ कार्य मुझसे हुआ, ऐसा ही मैं मानता हूँ। मेरे जीवन में मैंने बहुत अधिक काम तो नहीं किये हैं। जो भी छोटे-मोटे काम किये हैं, उन सबमें यह एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण कार्य आज मेरे हाथों हुआ है।

जनशक्ति ही सर्वतोपरि

हमारे देश में बहुत बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। उन सबका हल देश की जनता को खोजना है। सरकार भी जनता की ही एक शक्ति है। जनशक्ति का ही वह एक रूप है। फर्क इतना ही है कि वह शक्ति सीमित है और जनता की शक्ति अपार। सरकार की शक्ति पोखर-तालाब है, तो जनता की शक्ति समुद्र। इसलिए मैंने आपसे कहा कि जितनी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं, उन सबका हल आपको ही निकालना है।

आज की आरोग्य-समस्या

उन्हीं बड़ी समस्याओं में से एक बड़ी समस्या आरोग्य की समस्या है। देश का आरोग्य गिरता जा रहा है। डॉक्टरों की संख्या बढ़ी, विभिन्न दवाइयाँ भी बनीं, फिर भी स्वास्थ्य गिरता ही जा रहा है। यह डाक्टरों का दोष है या दवा का, ऐसा नहीं कहना

है; लेकिन वे भी जिम्मेवार हैं। मुख्य कारण तो दृष्टिकोण का भेद है। आज चिकित्सा का दृष्टिकोण ही उल्टा है। हर डाक्टर बड़ी-बड़ी रकमें कमाकर महल, बँगले बनाना और मोटर एवं दूसरे आराम के साधन जुटाना चाहता है। उनमें भी अपवाद हो सकते हैं, जैसे हर समाज में होते हैं। लेकिन समाज में जो मूल्य आज बने हैं, वे यही हैं कि बीमारों की मजबूरी से लाभ उठाकर, उन्हें दवा बाँटकर रुपया कमाना और तथाकथित इज्जत की जिंदगी व्यतीत करना।

समाज का मूल्य बदलना होगा

प्राचीन काल में ऐसे मूल्य नहीं थे। वैद्य फीस नहीं माँगता था। सेवा करना उसका धर्म था। उसमें भी स्वाथ्य, आचार-नियमों आदि पर अधिक जोर दिया जाता था। दिनचर्या, ऋतुचर्या, आहार-शास्त्र आदि संस्कारों पर अधिक जोर था। सेवा का दृष्टिकोण था, रोजगार का नहीं। खाने-पीने के लिए अन्न की, तन ढँकने के लिए वस्त्र की और रहने के लिए मकान की व्यवस्था समाज बड़े प्रेम और श्रद्धा से करता था। उस वक्त उसकी जो प्रतिष्ठा होती थी, वह समाज के मूल्यों को बतानेवाली होती थी। इसलिए आज भी डॉक्टरों का उतना दोष नहीं है। जब तक समाज के मूल्य नहीं बदलते, तब तक समस्या हल नहीं हो सकती।

विनोबा नवमूल्य के प्रतिष्ठापक

गांधीजी ने सेवा की जो परंपरा अपने देश में कायम की, उससे सारे समाज में एक क्रांति आयी। उनके परम शिष्य विनोबा-जी उन्हींके ढंग से भूदान द्वारा मूल्य-परिवर्तन का वही काम कर रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि जब तक मूल्य नहीं बदलते, तब

तक आरोग्य की समस्या भी न सुलझेगी। जिनके पास पैसा होगा, आज वे ही इलाज ले सकते हैं। इस संस्था में कुष्ठ-रोगियों की सेवा होती है। यहाँ के कार्यकर्ता जिस त्याग और तपस्या से काम करते हैं, कौन डॉक्टर ऐसा करेगा? आज के मेडिकल कॉलेज से निकलनेवाले हमारे स्नातकों से यह अपेक्षा पूरी नहीं हो रही है।

निष्ठावान् कार्यकर्ता चाहिए

अस्पताल खोलने और दवा बाँटने से भी काम होता है, लेकिन कुष्ठ-रोग की समस्या ज्यादा कठिन है। कुष्ठ-रोग हो जाने पर समाज में उसके प्रति घृणा उत्पन्न होती है, जिसके कारण रोगी अपने रोग को छिपाता है। किन्तु इस तरह रोग तो बढ़ता ही जाता है, आस-पास में भी उसके प्रसार में वृद्धि होती रहती है। इस तरह यह समस्या काफी जटिल बन गयी है। इस वक्त सबसे आवश्यक यही है कि इस समस्या को हल करने के लिए निष्ठापूर्वक काम करनेवाले कार्यकर्ता आगे आयें।

नौकर नहीं, सेवकों की जरूरत

मुझे बहुत दुःख होता है, जब देश के महान् नेता यह कहते हैं कि 'अब तो अपनी सरकार हो गयी है। जितने सरकारी कर्मचारी हैं, सब जनता के सेवक हैं। अब और अलग से सेवक कौन चाहिए, व्यर्थ ही लोग 'सेवा-सेवा' चिल्लाते हैं।' हमारी मान्यता है कि नौकरी और सेवा में अंतर है। हजारों रुपया पानेवाले सरकारी नौकर सेवा और त्याग की प्रेरणा नहीं दे सकते। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सेवकों की आवश्यकता बढ़ गयी है। जो कष्ट सहकर, नम्रतापूर्वक, भगवान् की ही सेवा मानकर काम करता है, उसीसे यह कुष्ट-सेवा का काम हो सकेगा। हर किसी

से यह नहीं बनेगा। इस प्रकार के भावनावान् सेवक चाहिए, जो अपने जीवन को इन दुखियों की सेवा के लिए समर्पण कर सकें। गांधीजी ने कहा था कि 'जिस दिन' ऐसे १०० भी निःस्पृह कुष्ठ-सेवक उपलब्ध हों, उसी दिन मैं कुष्ठ-सेवक-संघ की स्थापना करूँगा।' आज यहाँ बड़ी संख्या में विभिन्न क्षेत्रों से लोग आये हैं। मैं उन सबसे अपील करता हूँ कि वे इस काम को अपना लें।

कुष्ठ-समस्या हल कैसे हो ?

मैं कुष्ठ-सेवा का विशेषज्ञ नहीं हूँ। कुष्ठ-सेवा का प्रत्यक्ष कार्य भी अधिक नहीं किया है। ३ वर्ष पूर्व कौआकोल में ग्राम-निर्माण के उद्देश्य से सर्वोदय-आश्रम की स्थापना करने का सौभाग्य मुझे मिला। वहाँ कुष्ठ-रोग की समस्या भी सामने आयी। परिणाम-स्वरूप कपसिया कुष्ठ-सेवा-केन्द्र की स्थापना की गयी। उसके लिए हमें पू० विनोबाजी का आशीर्वाद भी मिला। यहाँ अनुभव यही आया कि कुष्ठ-समस्या हल करने के लिए दो तरफ काम होना चाहिए। एक तो जो कुष्ठ-रोग से पीड़ित हैं, उनके उपचार की व्यवस्था होनी चाहिए। वैसी व्यवस्था जगह-जगह हो। सिर्फ दवा के उपचार से यह समस्या हल न हो सकेगी। इलाज होता रहता है और दूसरी ओर नये रोगी भी बनते जाते हैं। कुष्ठ-रोगी इधर-उधर घूमते और रोग-प्रसार करते रहते हैं। विज्ञान ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि यह भयंकर रोग निर्मूल हो सकता है। फिर भी आज यह संभव क्यों नहीं हो रहा है, इस ओर हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए। केवल सरकार के ऊपर छोड़ देने से यह समस्या हल न होगी। इसके लिए डॉक्टर, सेवक, जनता, सरकार सबको प्रयास करना होगा।

गाँवों का उत्तरदायित्व

मुख्यतः यह गाँवों की समस्या है। सबको मिलकर इसे हल करना होगा। लोगों की आदतें सरकार नहीं सुधार सकती। गंदगी, कुरीतियाँ, अज्ञान, गरीबी ये सब रोग फैलानेवाले हैं। गाँव-गाँव में लोगों को रहने की तमीज सिखानी होगी। कुष्ठ-रोग दो प्रकार का होता है। एक अवस्था छूत की होती है, जिससे छूत लगती है। दूसरी अवस्था ऐसी है, जिससे छूत नहीं लगती या बहुत कम लगती है। छूतवाले रोगियों का सम्पर्क टालना होता है। अब यह काम कौन करे? संस्था या सरकार नहीं कर सकती। घरवाले और गाँववाले ही वैसी व्यवस्था कर सकते हैं। जो धनवान् हैं, वे भी मदद कर सकते हैं। पंचायतें भी मदद कर सकती हैं। गाँव में ही अलग्नीकरण केन्द्र हों, जहाँ कुष्ट-रोगी जाकर रहें। गरीब भी इन लोगों के लिए अपना श्रम और प्रेम दें। छोटी उम्र के बच्चों को यह रोग जल्दी पकड़ता है। इसलिए बच्चों की कुष्ठ-रोगियों से रक्षा करना समाज का कर्तव्य होना चाहिए।

कुष्ठ-नियंत्रण सर्ववर्गीय काम

प्रत्येक नागरिक को यह समझना है कि यह हमारा काम है। क्योंकि यदि गाँव में यह रोग है, तो किसीको भी लग सकता है। गरीब, अमीर कोई इसकी छूत से नहीं बच सकता। इसलिए सभी को यह समस्या हल करने में मदद करनी चाहिए। सभी पक्ष एवं वर्ग; विद्यार्थी, वकील, डॉक्टर, अध्यापक आदि सभी शिक्षित लोग अपना-अपना योग इस शुभ-कार्य के लिए दें। ये लोग कुष्ट-जाग्रति फैलाने में बहुत मदद कर सकते हैं

तीन सुझाव

सारांश, आज आपके सामने मेरे ये तीन निवेदन हैं : पहला

निवेदन यह है कि सेवा करने के लिए निःस्पृह सेवक बड़ी संख्या में आगे आयें। अपने घर का काम करते हुए कुछ लोग यह काम करें और कुछ लोग पूरा समय देकर जीवन-दान दें। कुष्ठ-रोग पर हिन्दी में साहित्य नहीं के बराबर है। उसका भी निर्माण करना चाहिए। प्रत्यक्ष रोगी-सेवा भी निर्भयता के साथ उठायें। सावधानी लेने से इस रोग की छूत नहीं लगती। अतः इन रोगियों की सेवा करनेवाले वैसे निष्ठावान् सेवक समाज से आने चाहिए।

मेरा दूसरा निवेदन है गाँववालों से कि वे अलग्नीकरण की स्थानिक व्यवस्था करें। इलाज और अलग्नीकरण दोनों साथ-साथ चलेगा, तो रोग-प्रसार निश्चित कम होगा और एक दिन इस रोग का आमूल निर्मूलन हो सकेगा।

तीसरा निवेदन है, समाज-परिवर्तन का। संत विनोबा ने जो हवा आज पैदा की है, उसका उपयोग इस प्रकार की ग्राम-समस्याओं को हल करने में भी होगा। हर घर में गरीबों, दुखियों के लिए प्रेम और स्थान होना चाहिए। सबको स्वयं को समाज का सेवक समझना है, समाज को देकर ही भोगना है। सहकार, सहयोग और परिवार का न्याय गाँव पर लागू करना है। तभी सारे मूल्य बदलेंगे और हमारे गाँव सुखी होंगे। रोग, गरीबी, अज्ञान मिटेगा। नैतिक मूल्य कायम होंगे और मानवता का विकास होगा। हम सब अपने-अपने कर्तव्य का पालन करेंगे, तो हमारा जीवन भी सार्थक बनेगा।

...
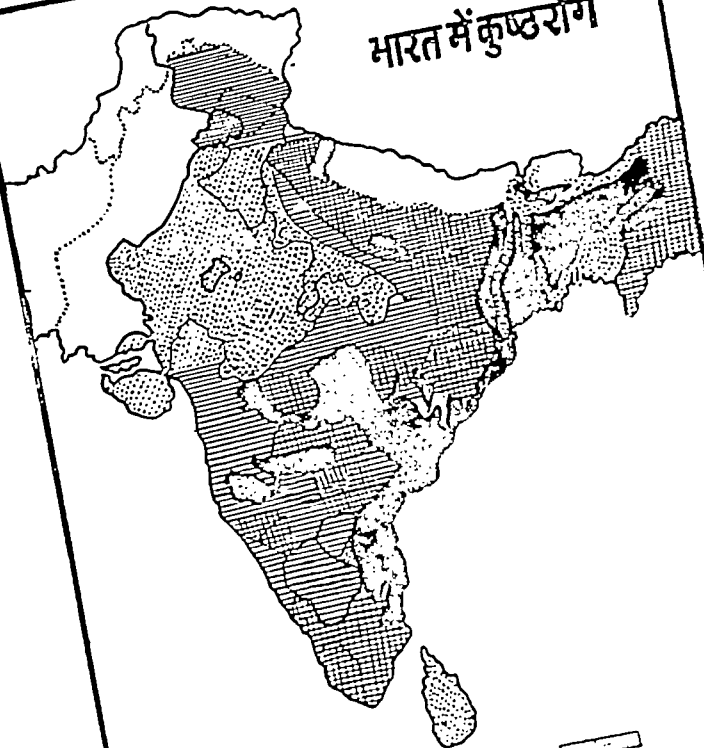
भारत में कुष्ठरोग
१००० आबादी में १ से नीचे (.१% से नीचे)
" " " १ से ३ (.१-.३%)
" " " ३ से ५ (.३-.५%)
" " " ५ के ऊपर (.५% के ऊपर)

(अन्य लेखक)

नक्षत्रों की छाया में	१॥)
भूदान-गंगोत्री	२॥)
भूदान-आरोहण	॥)
श्रम-दान	।)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों	१)
सफाई : विज्ञान और कला	॥।)
सुन्दरपुर की पाठशाला	॥।)
गो-सेवा की विचारधारा	॥)
विनोबा के साथ	१)
पावन-प्रसंग	॥)
छात्रों के बीच	।-)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
सर्वोदय-संयोजन	१)
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	॥)
सामाजिक क्रांति और भूदान	।-)
गाँव का गोकुल	।)
ब्याज-बट्टा	।)
पूर्व बुनियादी	॥)
सर्वोदय-भजनावली	।)
क्रान्ति की पुकार	।)
राजनीति से लोकनीति की ओर	॥)
नवभारत	४)
सत्संग	॥)
क्रांति की राह पर	१)
क्रांति की ओर	१)
सर्वोदय-पद-यात्रा	१)
सर्वोदय-सम्मेलन रिपोर्ट, कांचीपुरम्	१)
सर्वोदय-सम्मेलन रिपोर्ट, कालड़ी	१)
भूदान का लेखा (आँकड़ों में)	।)
कुष्ठ-सेवा	१।)
बुनाई	३)
कताई-शास्त्र	२)
ताई की कहानियाँ	।)
नये अंकुर	।)
दादा का स्नेह-दर्शन	।)
विकास की ओर	।)
सत्याग्रही शक्ति	।-)
मानस-मोती	।)
पावन-प्रकाश	।)
विनोबा-संवाद	।=)
जीवन-परिवर्तन (नाटक)	।)
सपूत (नाटक)	।=)
अपना राज्य	।=)
अपना गाँव	।=)
प्राकृतिक चिकित्सा क्यों ?	।)
बापू के पत्र	१।)
अर्थनीति : सर्वोदय दृष्टि से	॥।)
अर्थ-व्यवस्था : सर्वोदय-दृष्टि से	१।)
सेवा की पगडण्डी	१।)
मेरा जीवन-विकास (प्रेस में)	
ग्रामदान क्यों ?	१)

(उर्दू-साहित्य)

गीता-प्रवचन	१)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१।)
संपत्ति-दान-यज्ञ	॥)
एक बनो नेक बनो	।)
ताजीरों की दावत	=)
भूदान : सवाल-जवाब	।=)
तालीमी नजरिया	२)
विनोबा : एक झाँकी	

मेरी मान्यता है कि नौकरी और सेवा में अंतर है। हजारों रुपया पानेवाले सरकारी नौकर सेवा और त्याग की प्रेरणा नहीं दे सकते। स्वराज्य प्राप्ति के बाद सेवकों की आवश्यकता बढ़ गयी है। जो कष्ट सहकर, नम्रतापूर्वक भगवान्‌की ही सेवा मानकर काम करता है, उसीसे यह कुष्ठ-सेवा का काम हो सकेगा। हर किसीसे यह नहीं बनेगा। इस प्रकार के भावनावान् सेवक चाहिएँ, जो अपने जीवन को इन दुखियों की सेवा के लिए समर्पित कर सकें।

—जयप्रकाश नारायण